सन्त-जीवन-दर्पण

मानव सेवा संघ-प्रणेता के
जीवन से सम्बन्धित
प्रेरक प्रसंग एवं संस्मरण

सन्त-जीवन-दर्पण

मानव सेवा संघ-प्रणेता के जीवन से सम्बन्धित
प्रेरक प्रसंग एवं संस्मरण

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन

- प्रकाशक :
  मानव सेवा संघ,
  वृन्दावन

- प्रथम संस्करण : 3000 प्रतियाँ

- मूल्य : दस रुपये

होली-उत्सव : 2005

- मुद्रक :
  पावन प्रिन्टर्स
  मेरठ

प्रार्थना

मेरे नाथ,

आप अपनी सुधामयी, सर्व समर्थ, पतित पावनी, अहैतुकी कृपा से दुःखी प्राणियों के हृदय में त्याग का बल एवं सुखी प्राणियों के हृदय में सेवा का बल प्रदान करें, जिससे वे सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त हो, आपके पवित्र प्रेम का आस्वादन कर कृतकृत्य हो जाएँ।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

मानवता के मूल सिद्धान्त

1. आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में, अपने दोषों को देखना।
2. की हुई भूल को, पुनः न दोहराने का व्रत लेकर, सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।
3. विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।
4. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवत्-चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा, अपना निर्माण।
5. दूसरों के कर्त्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।
6. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी, पारिवारिक भावना के अनुरूप ही, पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी, स्नेह की एकता।
7. निकटवर्ती जन-समाज की, यथाशक्ति, क्रियात्मक रूप से सेवा करना।
8. शारीरिक हित की दृष्टि से, आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।
9. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान शून्य करके, अपने को सुन्दर बनाना।
10. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।
11. व्यर्थ-चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

प्राक्कथन

परम कृपालु प्रभु की अहैतुकी कृपा से मानव सेवा संघ का नवीन प्रकाशन पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हार्दिक प्रसन्नता है। आधुनिक युग के महान् तत्त्ववेत्ता क्रान्तद्रष्टा विचारक सन्त प्रवर ब्रह्मलीन स्वामी शरणानन्द जी महाराज के मार्मिक जीवन प्रसंगों को इस पुस्तक में संजोया गया है। संघ द्वारा प्रकाशित तथा दिव्य ज्योति देवकी माता जी द्वारा संकलित लघु पुस्तिका 'प्रबोधनी' को भी इस पुस्तक में समाविष्ट कर दिया गया है।

मानव सेवा संघ के प्रणेता सन्त का जीवन-वृत्त क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध नहीं है। अतः उनके सम्बन्ध में साधकों के संस्मरण ही उनके बहुमुखी व्यक्तित्व के विभिन्न आयामों को प्रकाशित करते हैं। पूज्य महाराज जी की साधारण बातचीत में भी एक अर्थगाम्भीर्य छिपा रहता था, इसका अनुभव इस पुस्तक के अनुशीलन से पाठकों को स्वयमेव होगा। मानव की व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं दार्शनिक समस्याओं के सम्बन्ध में व्यक्त किए गए श्री स्वामी जी के विचार मौलिक तथा विलक्षण होते थे, जो साधकों को नवीन प्रेरणा तथा आलोक प्रदान करने में सक्षम हैं।

प्रस्तुत संकलन के लिए जिन साधकों, विशेषतः भक्तिमती सुश्री अर्पिता जी, पुरलिया निवासी श्री दुर्गा प्रसाद जी राजगढ़िया एवं बटाला निवासी श्री शादी लाल वर्मा, ने स्वामी जी महाराज के संस्मरण प्रेषित कर अपना सहयोग प्रदान किया है, उनके प्रति हार्दिक आभार।

यह पुस्तक साधन-पथ के पथिक भाई-बहनों के जीवन-पथ को आलोकित करे इसी सद्भावना के साथ—

होली-उत्सव
2005

विनीत
अद्वैत चैतन्य

'प्रबोधनी' पुस्तक में अंकित

दिव्य ज्योति देवकी जी के —

उद्गार

दुःख के घने बादल जिस व्यक्तित्व को तिमिराच्छन्न कर लेते हैं वह उदय-अस्त से रहित अनन्त प्रकाश-रश्मियों को स्वयं में अवतरित करने के लिए उद्यत हो जाता है। मानव-जीवन की संरचना का यह भी एक साँचा है जिसमें कोई-कोई अपने को ढाल कर मानवता की महती विलक्षणता को संसार में साकार करता है। कहाँ घोर अन्धकार ! कहाँ अनन्त प्रकाश !! इस उद्भव की दृष्टि से मानव-जीवन में दुःख के घने बादलों का घिर आना अनन्त प्रकाश के अवतरण का ही सूत्रपात है। उस प्रकाश से जो जीवन अभिन्न होता है वह स्वयं सदा-सदा के लिए कृतकृत्य तो होता ही है, मानव जीवन के लिए 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की अमिट लीक भी कालपट्ट पर खींच देता है, जिस पर चल कर युगों-युगों तक मानव-समाज दुःख से परित्राण पाता है एवं अनन्त आनन्द से अभिन्न होता है।

निवेदिका
देवकी

प्रार्थना

मेरे नाथ,

आप अपनी सुधामयी, सर्व समर्थ, पतित पावनी, अहैतुकी कृपा से मानव मात्र को विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें एवं हे करुणा सागर ! अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का नाश करें। सभी का जीवन सेवा-त्याग-प्रेम से परिपूर्ण हो जाए।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

वस्तु खिंचती है धरती की ओर
मनुष्य खिंचता है अनन्त की ओर

अनुक्रम

स्वामी शरणानन्द : एक विहंगावलोकन

ब्रह्मलीन स्वामी शरणानन्द जी महाराज एक महान् क्रान्तदर्शी, तत्त्ववेत्ता, भगवद्भक्त एवं मानवता के संरक्षक सन्त थे। उनका प्रादुर्भाव उत्तर भारतवर्ष में 20 वीं सदी के प्रारम्भ में हुआ। उनके जीवन के उन्मेष के सम्बन्ध में समय-समय पर प्रसंगवश उन्हीं के श्री मुख से जो कुछ सुना गया, उससे हम लोगों ने जाना कि बचपन में ही लगभग 10 वर्ष की अवस्था में उनकी आँखें चली गयीं। उनके अन्धेपन के दुःख से सारा परिवार अथाह दुःख में डूब गया, परन्तु उस दुःख के प्रभाव से इनमें एक प्रश्न पैदा हो गया—'क्या ऐसा भी कोई सुख होता है, जिसमें दुःख शामिल न हो?' उत्तर मिला कि ऐसा सुख साधु-सन्त को होता है, जिसमें दुःख सम्मिलित नहीं रहता। इस उत्तर से उन्हें जीवन की राह मिल गई। उन्होंने निश्चय कर लिया कि मैं साधु हो जाऊँगा। इनके मन में यह चिन्तन चलने लगा कि साधु कैसे बनूँ! सत्गुरु रूप सन्त मिले। बातचीत हुई। सन्त ने परामर्श दिया कि ईश्वर के शरणागत हो जाओ। इनके बाल्यकाल के कोमल हृदय पर सन्त की वाणी का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। ईश्वर की शरणागति स्वीकार करते ही इनके मन में ईश्वर से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा जाग्रत हो गई। उस उत्कण्ठा ने शरीर और संसार के सब बन्धनों को ढीला कर दिया। 19 वर्ष की उम्र में इन्होंने विधिवत् संन्यास ले लिया। इनका नवीन नामकरण हुआ 'स्वामी शरणानन्द।' उसी समय से सब सामान और साथियों का सहारा छोड़ कर ये संन्यास धर्म के कठोर व्रतों का दृढ़ता से पालन करते हुए भगवान के सहारे रहने लगे।

श्री महाराज जी की बाल्यकालीन घटनाओं से स्पष्ट विदित होता है कि भगवान के शरणागत होने का भाव इनमें इतना सजीव था कि—सर्व समर्थ प्रभु सदैव अपने साथ हैं—इस सत्य के अभिव्यक्त होने में देर नहीं

लगी। एक बार मथुरा से आगरा जाते समय ये अकेले ही पैदल यमुना के किनारे-किनारे जा रहे थे। एक स्थान पर ढाह गिरी। ये पानी में जा पड़े। नदी चढ़ी हुई थी। हाथ की लाठी छूट गई। तैरना कुछ आता था, पर बिना देखे पता नहीं चला कि किधर की ओर तैरें। शरण्य की याद आई और उनके भरोसे इन्होंने जल में डूबते हुए शरीर को ढीला छोड़ दिया। तत्काल ऐसा महसूस हुआ जैसे किसी ने इनको जल में से निकाल कर खुश्की पर डाल दिया। उठने के लिए जब इन्होंने धरती पर हाथ टेका तो एक नयी लाठी हाथ में आ गई। प्रभु की शरणागत-वत्सलता को पाकर इनका हृदय भर आया। उनकी महिमा से अभिभूत, उनके प्यार में मस्त होकर ये उठे और चल दिए।

इनके जीवन की ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जिनसे ईश्वर के प्रति अविचल आस्था एवं अनन्य शरणागति का परिचय मिलता है। जब कभी ये वृन्दावन में होते तो प्रति-दिन श्री बाँके बिहारी जी के दर्शन करने जाते थे। एक दिन एक मित्र ने पूछ लिया, कि "महाराज जी! आपको दिखाई तो देता नहीं है—दर्शन कर नहीं सकते, फिर आप मन्दिर में क्यों जाते हैं?" श्री महाराज जी ने उत्तर दिया—"भले आदमी! सोचो तो सही—मेरी आँखें नहीं हैं, तो क्या ठाकुर जी की आँखें नहीं हैं? मैं नहीं देख सकता, परन्तु वे तो देखते हैं। मुझे देख कर उन्हें प्रसन्नता होती है, इसलिए मैं मन्दिर में जाता हूँ।" कितना सजीव ईश्वर-विश्वास है।

श्री स्वामी जी महाराज एक बार ट्रेन में बैठे थे। ईसाई मत के एक पादरी साहब भी वहाँ आकर बैठ गए। थोड़ी देर बाद उन्होंने श्री महाराज जी से पूछा कि आप मसीहा को जानते हैं? इन्होंने सहज भाव से उत्तर दिया, "जी हाँ, जानता हूँ।" पादरी साहब ने फिर प्रश्न किया कि "मसीहा के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं?" इस प्रश्न को सुन कर बड़ी प्रसन्नता

एवं कॉनफिडैंन्स के साथ श्री महाराज जी ने कहा—"भाई, मसीहा खुदा के पुत्र हैं, मैं खुदा का दोस्त हूँ, मसीहा मेरा सगा भतीजा है। मैं उसको अच्छी तरह से जानता हूँ। मसीहा मुझे बहुत प्यारा लगता है।" एक गेरुए वस्त्रधारी हिन्दू संन्यासी मसीहा को अपना सगा सम्बन्धी मानता है और आत्मीयता के नाते प्यार करता है—ऐसे सम्बन्ध की कल्पना भी पादरी साहब नहीं कर सकते होंगे। वे श्री महाराज जी का उत्तर सुन कर स्तम्भित रह गए। उन्होंने हिन्दू मत के इस व्यापक ईश्वरीय सम्बन्ध की बात, जिसमें सभी मजहब के ईश्वर-विश्वासी समा जायें, कभी सुनी नहीं होगी। आप सोचिए कि श्री महाराज जी की बात कितनी सत्यतापूर्ण है। वस्तुतः ईश्वरवाद में मजहब-भेद हो ही नहीं सकता। ईश्वरवाद तो मानव जीवन का एक ऐसा व्यापक सत्य है कि मन्दिर, मस्जिद और चर्च के भेद इसे विभाजित नहीं कर सकते। ईश्वरवादी होकर मजहबी संघर्ष करने वाला घोर अनीश्वरवादी है। क्योंकि सही ईश्वरवाद का अर्थ है—प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना। वैष्णव मत के अनुसार यही उपासना है। इसी आधार पर श्री महाराज जी ने भक्तिमती मीरा जी, महात्मा ईसा मसीह और पैगम्बर मुहम्मद को परम वैष्णव कह कर स्वीकार किया है। क्योंकि मीरा जी ने ईश्वर को अपना पति माना, महात्मा ईसा ने ईश्वर को अपना पिता माना और पैगम्बर मुहम्मद ने ईश्वर को अपना दोस्त माना और तीनों ही प्रभु के परम भक्त हुए। प्रभु-भक्ति के लिए ईश्वर को अपना मानना और उनको रस देने के लिए उनका प्रेमी होना अनिवार्य है। कोई मन्दिर में जाकर पूजा करेगा, कि मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ेगा, कि चर्च में जाकर प्रार्थना करेगा—यह प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कोई प्रभु को अपना मान कर उनके प्रति प्रेम-भाव रखेगा और उन्हीं के नाते प्राणीमात्र के प्रति सद्भाव रखेगा तो उसे सब जगह परमात्मा मिलेगा, अन्यथा कहीं नहीं मिलेगा। यह ध्रुव सत्य है। श्री महाराज जी ने इस सत्य को स्वीकार

करने का परामर्श सभी ईश्वरवादी साधकों को दिया है। उनका यह विचार उनके प्रवचनों में व्यक्त है, जिसका अनुसरण मजहबी एकता को सुरक्षित रखने में समर्थ है।

श्री स्वामी जी महाराज को संन्यास देने वाले गुरु ने एक बार विदा होते समय कह दिया कि बेटा, जब तुम आजाद हो जाओगे, तो सारी प्रकृति तुम्हारी सेवा के लिए लालायित रहेगी, चराचर जगत् तुम्हारी आवश्यकता-पूर्ति के लिए लालायित रहेगा। वृक्ष तुम्हें फल-फूल देंगे और खूँखार शेर तुम्हें गोद में लेकर तुम्हारी रक्षा करेंगे। इतना कह कर सद्गुरुदेव ने स्वरचित एक दोहा सुना दिया—

"जीते जी मर जाय, अमर हो जावे।
दिल देवे, सो दिलबर को पावे॥"

'जीते जी मर जाय' अर्थात् अंकिचन, अचाह एवं अप्रयत्न हो जाना और 'दिलबर को दिल देवे' अर्थात् प्रभु को अपना मान कर उन्हें रस देने के लिए अपने को समर्पित करना।

श्री स्वामी जी महाराज ने गुरुवाणी को सर्वांश में धारण किया और उसे अपने जीवन में शत-प्रतिशत फलित होते देखा। अकिंचन, अचाह एवं अप्रयत्न होकर उन्होंने परम स्वाधीन, दिव्य-चिन्मय जीवन पा लिया तथा प्रभु के प्रेमी होकर प्रेम के अनन्त रस से भरपूर हो गये।

घोर पराधीनता की पीड़ा से मुक्त होकर अमरत्व के आनन्द में मग्न हो गए। इस सम्बन्ध में श्री महाराज जी ने अपना एक अनुभव सुनाया था। एक बार उनका शरीर अस्वस्थ हो गया था। उत्तराखण्ड की यात्रा करके वापस आए थे। हिल डायरिया से शरीर बहुत ही दुर्बल हो गया था। साथ-साथ ज्वर भी रहने लगा। बीमारी की दशा में करीब 40 दिन बीत गए थे। चिकित्सकों के मतानुसार, नाड़ी की गति शरीर के नाश का

संकेत दे रही थी। मित्रों, प्रेमियों एवं चिकित्सकों ने चिन्ता प्रकट की। श्री स्वामी जी महाराज के शरीर को नियमानुसार कुशा और मृगछाला बिछा कर जमीन पर उतार दिया गया। चारों ओर प्रियजन खड़े थे। प्रेमी डाक्टर ने कहा कि 'बाबा जी चले।' इन्होंने सुना और प्रिय जनों के उमड़ते हुए हृदय के स्पन्दन को अनुभव किया। वीतराग सन्त को बड़ा भारी कौतूहल हुआ कि प्रियजन इतने दु:खी क्यों हैं? उन्होंने सोचा कि अब मैं देखता हूँ कि मृत्यु कैसी होती है? जब वे देखने लगे तो उन्हें बड़ा आनन्द आया। शरीर के छूट जाने में इतना हल्कापन और इतना आनन्द था कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं थी। इस अनुभव से वे इस निश्चय पर पहुँचे कि मृत्यु में कोई दु:ख नहीं है। चूँकि आदमी शरीर को बनाए रखना चाहता है, इस कारण मरने में दु:खी और भयभीत होता है अन्यथा आनन्द ही आनन्द है। उनका आनन्द मृतकवत शरीर पर भी फैल गया था। वे उस शरीर को जमीन पर पड़ा हुआ देख रहे थे और सुन रहे थे कि मित्रगण कह रहे हैं कि देखो 'बाबा जी कितने प्रसन्न हैं।'

बुद्धि की प्रखरता, हृदय की कोमलता एवं जीवन के प्रति जागरूकता के गुण इनमें जन्मजात थे। अवसर पाकर इन गुणों का पूर्ण विकास हुआ।

एक बार वे अपने गुरुदेव के पास बैठे थे। इनके मन में शास्त्रों एवं उपनिषदों के अध्ययन का संकल्प उठा। आँखें तो थी नहीं, मन ही मन सोच कर रह गए। तत्काल ही इनके गुरुदेव बोल उठे—अरे भाई, ठहरी हुई बुद्धि में श्रुति का ज्ञान स्वत: अभिव्यक्त होता है। उसकी पाठशाला है 'एकान्त' और पाठ है 'मौन'। ज्ञानार्जन का यह रहस्य सुन कर ये बहुत प्रसन्न हो गए। इन्होंने एकान्त में मौन रह कर बुद्धि को सम कर लिया। बुद्धि की समता में वह ज्ञान उदित हो गया जो ग्रन्थों के अध्ययन से कभी

सम्भव ही नहीं है। उस ज्ञान के प्रकाश में इन्हें सृष्टि के आदि-अन्त के सभी रहस्यों का पता चल गया। सृष्टि के विधायक की मंगलकारिता एवं मानव जीवन के मंगलमय विधान का अर्थ स्पष्ट हो गया। इन्होंने जानने योग्य सब कुछ जान लिया, क्योंकि जिस ज्ञान से सब कुछ जाना जाता है, वह ज्ञान इनमें अभिव्यक्त हो गया था।

अन्तर्चक्षुओं के खुलते ही इनमें इतनी सामर्थ्य आ गई कि बाह्य जगत को भी देखने में समर्थ हो गए थे। वे भीतर-बाहर सब कुछ देख सकते थे। वे बिल्कुल निर्द्वन्द्व एवं निर्भीक होकर रहते थे। बाहरी-आँखों के बिगड़ जाने का दुःख सदा-सदा के लिए मिट गया।

इनका इतना विकास अल्प समय में ही हो गया। जिन मित्रों ने प्रारम्भ से इनको देखा है, वे कहते हैं कि देखते ही देखते उनके भीतर सत्य से अभिन्न होने की व्याकुलता जो थी, वह परम शान्ति में बदल गई। उनका मुखमण्डल प्रकाशमान हो गया। वे अपने अविनाशी अस्तित्व में आप स्थित रहने लगे। उनके हृदय में ईश्वरीय प्रेम लहराने लगा, जिसके स्पर्श मात्र से निकटवर्ती मित्रगण पुलकायमान होने लगे। योग के द्वारा सिद्ध होने वाली सब सिद्धियाँ सहज ही उनमें आ गईं, पर वे उन सब सिद्धियों को गोपनीय रखते थे। उनका जीवन योग-बोध एवं प्रेम का सजीव प्रतीक था। यही कारण है कि इनकी उपस्थिति से वातावरण में प्रेम की लहरियाँ उठती रहती थीं।

उनके जीवन से यह सत्य प्रत्यक्ष होता था कि ज्ञान और प्रेम का तत्त्व जब किसी सन्त में अभिव्यक्त हो जाता है तो वह विभु हो जाता है। श्री महाराज जी के निकट सम्पर्क में आने वाले अनेक साधक भाई-बहन एक अज्ञात मिठास के आभास से आकर्षित हो कर चुपचाप मंत्र-मुग्ध की भाँति उनके पास बैठे रहते थे।

प्रेम-पथ की साधना की चर्चा जब होने लगती थी और श्री महाराज जी, प्रेमी तथा प्रेमास्पद के अनन्त विहार की मधुर वार्ता सुनाने लग जाते थे तो सुनने वाले ईश्वर-विश्वासी साधक अपने को भूल जाते थे। अनेक श्रोताओं ने समय-समय पर अपना अनुभव हमें बताया कि श्री महाराज की वाणी में उनका रसमय जीवन ही प्रवाहमान होकर श्रोताओं के हृदय को स्पर्श करता था, जिससे श्रोता अपने आपको प्रेम-भाव में उत्तरोत्तर ऊँचे उठते हुए पाते थे। उन्हें अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती थी।

इनकी प्रश्नोत्तर की शैली बेजोड़ थी। वाक्पटुता एवं उन्मुक्त हास्य, भ्रम-निवारण के लिए कड़ी-से कड़ी आलोचना के साथ ही मातृवत् स्नेह का व्यवहार जिज्ञासुजनों के विशेष आकर्षण का स्रोत था। अन्तर्बोध से अनुप्राणित, इनकी अकाट्य युक्तियों में बहुत ही स्पष्टता, दृढ़ता एवं निस्सन्देहता थी। इनके प्रवचनों एवं साहित्य में कहीं भी आपको ग्रन्थों के प्रमाणों का उल्लेख नहीं मिलेगा। वे जानते थे कि स्वतः सिद्ध सत्य को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वे कभी सोचकर नहीं बोलते थे। कई बार उन्होंने प्रसंगवश ऐसा कहा कि, "भाई जैसे तुम सुनते हो वैसे मैं भी सुनता हूँ। मैं भी तो श्रोता हूँ।"

उनकी अहं-शून्य वाणी में ज्ञान और प्रेम की अजस्र धारा सहज ही प्रवाहित होती रहती थी, जिसे सुनकर बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ भी कहते थे और आज भी कह रहे हैं कि वर्षों तक ग्रन्थों के अध्ययन से दर्शन के जो गूढ़ रहस्य समक्ष में नहीं आये थे, वे सब इन बेपढ़े सन्त की वाणी से स्पष्ट हो गए।

करुणा से द्रवित, सर्वात्मभाव से भावित सन्त-हृदय में गहन एकान्तिक चिन्तन के फलस्वरूप मानव-जीवन सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर स्वरूप 'मानवता के मूल सिद्धान्त' प्रकाश में आए। उनको श्री महाराज जी

ने मानव-समाज के लिए एक नवीन क्रान्तिकारी विचारधारा के रूप में संजोया। उसी विचारधारा तथा साधन प्रणाली का प्रतीक है— मानव-सेवा-संघ। इस संस्था की स्थापना सन्त शिरोमणि पूज्यपाद स्वामी शरणानन्द जी महाराज ने इस हेतु से की कि इसके माध्यम से युगों-युगों तक मानव-समाज कि विचारात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक सेवाएँ होती रहें। 1952 ई० में इसकी स्थापना हुई तथा सन् 1953 ई० में इसका रजिस्ट्रेशन हो गया। वृन्दावन में इसका प्रधान कार्यालय है। इस संस्था को स्थापित करने की आवश्यकता इसलिए पड़ गई कि मानव मात्र के परित्राण के लिए जिस सर्वमान्य विचार-प्रणाली का सृजन श्री महाराज जी की अन्तर्व्यथा से हुआ था—उसको उन्होंने अपने व्यक्तिगत नाम से प्रकाशित करना पसन्द नहीं किया। जिसे अहं को अभिमान-शून्य रखना अभीष्ट होता है, वें आत्म-ख्याति से बच कर रहते हैं।

इसमें दूसरी एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्री महाराज जी के विचारानुसार देश, काल, मत, मजहब, सम्प्रदाय एवं वर्ग से निरपेक्ष जो जीवन का सत्य है, उसे व्यक्ति के माध्यम से प्रकट करना उसका मूल्य घटाना है और सबसे बड़ी बात यह है कि जिन्होंने परम प्रेमास्पद की सत्ता से भिन्न अपना अस्तित्व ही नहीं रखा, वे अपने नाम से कोई बात कैसे कह सकते थे। इन्हीं कतिपय उल्लेखनीय कारणों से 'मानव-सेवा-संघ' की स्थापना हुई।

तब से अब तक देश के विभिन्न भागों में मानव-सेवा-संघ के माध्यम से जन-जन के भीतर सोई हुई मानवता को जगाने की सेवा की जा रही है। श्री स्वामी जी महाराज इस बात के लिए बड़े ही आतुर रहते थे कि प्रत्येक भाई-बहन अपने कल्याण में स्वाधीन और समर्थ हो जाए।

उनका प्रादुर्भाव एक विलक्षण विभूति के रूप में हुआ, ऐसा उनके सम-सामयिक सभी महान् सन्त एवं महापुरुष मानते हैं। प्रचण्ड ज्ञान, अकाट्य युक्ति, सरल विश्वास एवं अनन्य भक्ति—ये सभी पक्ष उनमें अपनी पराकाष्ठा पर थे। ऐसा अद्भुत काम्बिनेशन कहीं देखने में नहीं आता, जैसा परम पूज्य स्वामी जी महाराज में विद्यमान था। फिर भी उपर्युक्त दिव्यताओं को अपनी विशेषता मानने की भूल उन्होंने कभी नहीं की—

मेरा कुछ नहीं है।
मुझे कुछ नहीं चाहिए।
मैं कुछ नहीं हूँ।
सर्व समर्थ प्रभु मेरे अपने हैं—

यह चिरन्तन सत्य उनका जीवन था और यही उनके कथन का केन्द्र भी है। श्री महाराज जी की बड़ी भारी विशेषता यह रही है कि वे साधकों को किसी बाहरी विधि-विधान एवं अभ्यासजन्य साधनों पर अटकने नहीं देते थे, विभिन्न दार्शनिक मतभेदों में उलझने नहीं देते थे, किसी दर्शन या साधन-प्रणाली का आग्रह या विरोध नहीं करते थे। उन्होंने कभी अपना मत दूसरों पर आरोपित नहीं किया। स्वयं कट्टर ईश्वर-वादी होते हुए भी कभी ईश्वरवाद का प्रचार नहीं किया।

वे एक तत्त्वदर्शी सन्त थे। इसी कारण उन्होंने भक्ति-पथ, ज्ञान-पथ या योग-पथ में किसी को सबसे अच्छा या किसी को उससे कम अच्छा नहीं बताया, किसी को सहज या किसी को अपेक्षाकृत कठिन नहीं बताया। उन्होंने इस बात को घोषित किया है कि "दर्शन अनेक और जीवन एक है।" उन्होंने साधक मात्र को यह अभय वचन दिया है कि तुम आरम्भ में अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य, विश्वास और विचार के अनुसार

किसी एक साधन-पथ को पसन्द कर लो, पूर्णता में तुम्हें पूर्ण जीवन मिलेगा। कर्त्तव्यनिष्ठ को भी, योगी को भी, विचारक को भी एवं प्रभु विश्वासी को भी दिव्य, चिन्मय, रसरूप जीवन मिलता है, यह निर्विवाद सत्य है। जीवन की पूर्णता में योग, बोध और प्रेम से अभिन्नता सभी साधकों की हो जाती है। श्री महाराज जी का यह क्रान्तिकारी विचार उनके प्रवचनों में स्पष्ट व्यक्त होता था।

व्यक्ति के कल्याण एवं सुन्दर समाज के निर्माण सम्बन्धी कोई ऐसी समस्या नहीं है कि जिसका समाधान श्री महाराज जी की वाणी के अनुसरण से न हो जाए। श्री महाराज जी के अनुसार मानव-जीवन का सर्वोत्तम चित्र यह है कि—

शरीर विश्व के काम आ जाय,
अहं अभिमान-शून्य हो जाय
और, हृदय परम प्रेम से परिपूर्ण हो जाय।

इस आदर्श को उन्होंने अपने जीवन से दर्शाया और अपने महाप्रयाण से भी यही पाठ पढ़ाया। जब उन्हें यह विदित हो गया कि उनका शरीर अब समाज की सेवा के योग्य नहीं रह गया, तब उस शरीर को त्यागने का समय, तिथि एवं विधि भीतर ही भीतर निश्चित कर ली और कहने लगे—

(1) मैं त्रिकाल में भी शरीर नहीं हूँ।

(2) शरीर के नाश से मुझे दुःख नहीं होगा। मैं बहुत आनन्द में रहूँगा।

(3) बीच की यह उपाधि हट जाएगी तो भक्त और भगवान के अनन्त मिलन का अनन्त आनन्द रहेगा। इसलिए इस शरीर के छूटने पर शोक-सभाएँ नहीं होंगी; सत्संग समारोह होंगे।

(4) शरीर की बैकुण्ठी नहीं सजेगी, प्रोसेशन नहीं निकलेगा। मैं क्रान्तिकारी संन्यासी हूँ। तुम लोग विधि-विधान में मत पड़ना। कुटी में से पार्थिव शरीर निकालकर, आँगन में रखकर भस्म कर देना। शरीर की भस्मी मिट्टी में मिल जाएगी, खाद बन जाएगी, घास उगेगी, पशुओं का चारा बनेगा।

(5) समाधि-स्थल पर कोई चिह्न नहीं बनेगा, फूल नहीं चढ़ेगा।

(6) साधना का नाश नहीं होता है। अतः सेवा, त्याग, प्रेम का व्रत विभु होकर जन-समाज में फैलेगा।

(7) इस शरीर की सेवा में जिसकी रुचि है, वह मानव-सेवा-संघ की सेवा करे। संघ मेरा शरीर है और वह स्थाई रहेगा।

(8) जो लोग मुझे प्यार करते हैं वे भगवान को प्यार करें, क्योंकि भगवत्-प्रेम मेरा जीवन है।

(9) जो उपदेश भगवद्-विश्वास की जगह पर अपने व्यक्तित्व का विश्वास दिलाते हैं और भगवत्-सम्बन्ध के बदले अपने व्यक्तित्व से सम्बन्ध जोड़ने देते हैं, वे घोर अनर्थ करते हैं।

(10) सिवाय परमात्मा के और कुछ नहीं है, कुछ नहीं है, कुछ नही है।

(11) व्यक्त जगत् की विविधता के भीतर अव्यक्त नित्य प्रेम तत्त्व के एकत्वदर्शी सन्त ने कहा—

(क) कोई गैर नहीं है—यह धर्म का मंत्र है।

(ख) कोई और नहीं है—यह प्रेम का मंत्र है।

प्रिय साधको, इस सत्य को मानो। सर्व समर्थ प्रभु तुम्हारे अपने हैं, उनके होकर रहो, उन्हीं का काम करो और यह सद्‌गुरु का आशीर्वचन है कि उन्हीं में तुम्हारा नित्य वास होगा।

ऐसी अमृतमयी वाणी को सुनाकर, योगस्थित होकर, नाशवान् शरीर को स्वेच्छा से त्याग कर उस ब्रह्मनिष्ठ सन्त ने जीने की और मरकर अमर होने की कला हमें सिखायी।

उन सन्त शिरोमणि के चरणों में हमारा शत्-शत् नमन।

जब तक पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज सशरीर इस संसार में विराजमान थे, तब उन्होंने अपना जीवनदायी संदेश ग्राम-ग्राम, प्रान्त-प्रान्त अविराम भ्रमण करते हुए साधु-सन्त, साधक, समाजसेवी, साहित्यकार आदि सभी वर्गों को सुनाया और अब उनके ब्रह्मलीन हो जाने पर मानव-सेवा-संघ के माध्यम से यह काम हो रहा है।

सन्त अमर हैं। उनकी वाणी अमर है। हम सब भाई-बहन अमरत्व से अभिन्न हो जायें, इसी सद्भावना के साथ,

निवेदिका : देवकी

सन्त-वाणी

- *अपने दुःख का कारण अपने से भिन्न किसी और को नहीं समझना चाहिए।*
- *अपनी निर्बलता को अपनी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करना चाहिए।*
- *संसार से सच्ची निराशा परम बल है।*
- *अपने को सब ओर से हटाकर अपने में ही अपने प्रेम-पात्र को अनुभव करना अनन्य भक्ति है।*

स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज

—ब्रह्मलीन श्री स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती

श्री उड़िया बाबा जी महाराज के आश्रम (वृन्दावन) में बड़े फाटक के ऊपर, छत पर, सत्संग हो रहा था। बाबा चौकी पर बैठे थे, शेष सब नीचे। एक युवा सन्त, जो नेत्रहीन थे, बाबा के साथ प्रश्नोत्तर कर रहे थे। इस सम्बन्ध में दोनों एक प्रकार का ही प्रतिपादन कर रहे थे कि वेदान्त-विचार में भक्ति-भावना का मिश्रण नहीं करना चाहिए। बाबा 'विचार' एवं 'भाव' शब्द का प्रयोग करते थे और वे नेत्रहीन सन्त 'विवेक' और 'विश्वास' शब्द का। मैं उस समय तक संन्यासी नहीं हुआ था। दोनों के बीच में कुछ बोलता नहीं था। मैं मन ही मन श्री मधुसूदन सरस्वती के 'श्री भक्ति रसायन' के उस प्रसंग से तुलना कर रहा था जिसमें द्रुत-चित्त के लिए भक्ति रस एवं अद्रुत चित्त के लिए वेदान्त-विचार का अधिकार बतलाया गया है।

उन दोनों महात्माओं के विचार में शास्त्रोक्त भाव की अभिव्यक्ति के लिए एक नयी भाषा-भाव एवं विचार, विवेक एवं विश्वास का नाम मिला, और वह मेरे लिए बहुत प्रभावी सिद्ध हुआ। स्वतन्त्र चिन्तन को एक दिशा मिली। वे नेत्रहीन सन्त स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज थे। बाद में उनके साथ हमारा सम्पर्क वर्षों तक बना रहा।

दूसरी बार एक प्रश्न था कि "क्या ईश्वर की मान्यता के बिना भी सदाचारी एवं जागरूक चिन्तनशील पुरुष यथार्थ रूप में परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है?" उस समय मुझे यह मीमांसा बहुत अटपटी, लोक-व्यवहार के लिए अनुपयुक्त तथा लोक-मानस में नास्तिकता के प्रति महत्त्व-बुद्धि का आधान करने वाली लगी। परन्तु वेदान्त के आभास, प्रतिबिम्ब अथवा औपाधिक ईश्वर की अनिर्वचनीयता निश्चय करने के

लिए चिन्तन का एक नया, प्रशस्त पथ भी अस्पष्ट रूप से झलकने लगा। दृष्टि-सृष्टिवाद अथवा एक जीवनवाद के महत्त्वपूर्ण चिन्तन के लिए जैसे कोई नवीन मार्ग मिल गया हो। हाँ, तो इस विषय में भी बाबा एवं स्वामी शरणानन्द जी का मत एक-सा ही था। बाबा औपनिषद् रीति से और स्वामी जी अपने स्वतन्त्र चिन्तन की रीति से एक ही निष्कर्ष पर पहुँच रहे थे। यह सत्संग भी बड़ा प्रभावी रहा।

एक बार स्वामी शरणानन्द जी महाराज सेठ श्री जय दयाल जी के सत्संग में स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) आये। उनकी भाषा विलक्षण थी। उसको ग्रहण करने के लिए पहले-पहल कई दिन तक सुनना पड़ता था। स्वामी श्री रामसुखदास जी के साथ उनका विचार-विमर्श होता था। वे जब नये-नये शब्दों का प्रयोग करते तो पहले कुछ अद्भुत सा लगता, बाद में विचार करने पर प्राचीन शास्त्रों के साथ उसकी संगति लग जाया करती थी। वे 'अचाह' तथा 'अप्रयत्न' शब्द का प्रयोग किया करते थे। सीधी-सी बात है—'अचाह' माने निष्कामता और 'अप्रयत्न' माने नैष्कर्म्य। 'अचाह' अन्तः करण की शुद्धि है और 'अप्रयत्न' स्वरूप की सहज स्थिति। व्यवहार में यदि अपनी योग्यता का सदुपयोग दूसरों की सेवा के लिए नहीं किया जाएगा तो वह केवल अपनी सुख-सुविधा एवं भोग का साधन हो जाएगा।

श्री रामसुखदास जी ने मुझे बताया कि स्वामी शरणानन्द जी का चिन्तन बहुत ही गम्भीर एवं सूक्ष्म है। प्रत्येक बात को वे स्वयं चिन्तन के द्वारा अपनी भाषा में अभिव्यक्ति देते हैं। विचार करके देखने पर वह कहीं भी शास्त्र के विरुद्ध नहीं मिलती। 'अचाह' से हृदय शुद्ध होता है और 'अप्रयत्न' से सहज स्थिति होती है। बात सोलहों आने यथार्थ है। यहाँ सेवा ही धर्म है। इसी प्रकार धर्म, निष्कामता एवं सहज स्थिति की संगति लग गई।

स्वामी जी किसी जाति-पाँति, सम्प्रदाय, वर्ण-आश्रम आदि का नाम नहीं लेते थे। वे मानव के लिए मानवता का प्रतिपादन करते थे। मानव में जो आनुषंगिक विकार आ गए हैं, उनके निवारण के लिए प्रयास करना चाहिए एवं सहज मानवता का विकास तथा प्रकाश होना चाहिए। इसके लिए संकीर्ण विचारों एवं भावनाओं का परित्याग तथा उदात्त एवं उदार विचारों का उल्लास होना चाहिए। इसी अभिप्राय से श्री शरणानन्द जी महाराज ने 'मानव-सेवा-संघ' नाम की संस्था की स्थापना की।

उनका पूर्वाश्रम का नाम, ग्राम या जाति का मुझे पता नहीं है। वे इनकी चर्चा भी नहीं करते थे। हाँ, इतना अवश्य ही ज्ञात है कि वे 20 वीं शताब्दी के आरम्भ में जन्मे थे और दस वर्ष की आयु होते-होते वे नेत्रहीन हो गये थे। पहले उन्हें अपनी नेत्रहीनता की ग्लानि अवश्य हुई परन्तु बाद में महात्माओं के सत्संग से वह जाती रही। उनका मन भगवान के भजन में लगने लगा। पढ़ाई-लिखाई न होने पर भी परमात्मा के चिन्तन की दिशा में उनकी प्रज्ञा स्वतः अग्रसर होने लगी।

हमने स्वयं देखा और अपने कानों से सुना कि कोई कैसा भी प्रश्न करे, वे तत्काल उस प्रश्न का निरसन कर देते थे। उनकी सूझ-बूझ इतनी प्रखर थी के वे प्रश्न के शब्द सुनते ही समझ जाते थे कि प्रश्नकर्त्ता किस नासमझी या भूल के कारण यह प्रश्न कर रहा है। तत्क्षण वे उस पर चोट करते और प्रश्न ही कट जाया करता था। किसी का तर्क-वितर्क उनके समक्ष टिक नहीं पाता था। इसके साथ ही साथ उनका हृदय इतना भावपूर्ण एवं कोमल था कि भगवच्चर्चा करते-करते वे भावमग्न हो जाते और नेत्रों से अश्रुधारा का प्रवाह एवं कण्ठ गद्‌गद हो जाया करता था। उनकी वाणी का स्वर ही बदल जाता था।

क्रोध एवं क्षोभ की व्यर्थता पर चर्चा के समय उन्होंने सुनाया था कि वे कहीं अकेले यात्रा कर रहे थे। हाथ में डंडा था। पीछे से कोई बैलगाड़ी आयी, चक्का लगा, वे गिर पड़े। मन में गाड़ीवान के प्रति क्रोध भी आया, क्षोभ भी हुआ कि मैं नहीं देखता हूँ तो क्या हुआ, यह तो देखता है। गाँव के किसी व्यक्ति ने गाड़ीवान को भला-बुरा भी कहा, डाँटा-डपटा भी, परन्तु जब स्वामी जी आगे बढ़े तो किसी पेड़ से टकरा गये और गिर पड़े। कहते थे कि उस समय मन में आया कि अब करो क्रोध। इस दुर्घटना का तो कोई विशेष कर्त्ता ही नहीं है। जो सबका कर्त्ता है वही इसका कर्त्ता है। वस्तुतः जो अपने को कर्त्ता मानता है वही दूसरे को कर्त्ता मानता है। यह सब तो प्रभु की लीला है—चाहे जो हो जाय, जो किया जाय, जो कहा जाय— सब प्रभु की ओर से ही आता है। क्रोध-विरोध का कोई कारण नहीं है।

स्वामी जी ने सुनाया था—वे अपने कुछ भक्तों के साथ एक बार उत्तराखण्ड की यात्रा कर रहे थे। उन दिनों यात्रा पैदल ही होती थी। मार्ग में स्वामी जी का स्वास्थ्य बिगड़ गया। दो चार दिन तक तो भक्तगण उनकी सेवा में रहे। फिर धीरे-धीरे एक-एक करके अपनी यात्रा पूरी करने के लिए चले गए। वे बेचारे पहाड़ी मार्ग पर कब तक उनका साथ देते। स्वामी जी अकेले रह गये। थोड़े दिनों में उनका स्वास्थ्य ठीक हो गया। अपना डण्डा और कमण्डलु लेकर उन्होंने अकेले ही यात्रा की। एक नेत्रहीन व्यक्ति का एकाकी हिमालय की यात्रा करना कैसा होगा। न खड्डु में गिरे, न पहाड़ से टकराये और न ही पहाड़ में ठोकर लगी। क्या आश्चर्य है। उनके हृदय में ईश्वर के प्रति कितनी आस्था थी और ईश्वर अपने विश्वासी भक्त की कैसे रक्षा करता है एवं सहायता देता है— यह इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

पुण्य-स्मृति

—श्री सुदर्शन जी 'चक्र'

सर्वप्रथम हरिद्वार में मुझे श्री महाराजजी के दर्शन हुए थे। उससे पूर्व एक-दो पत्र मैंने लिखे थे और उनका उत्तर मुझे प्राप्त हुआ था। यह बात सन् 1938 या 1939 की है। उन दिनों मैं मेरठ से निकलने वाले मासिक-पत्र 'संकीर्तन' का सम्पादन कर रहा था। उसके विशेषांक के सामग्री-चयन के कार्य से हरिद्वार गया था। प्रलंब शरीर, धूप में तपने से किंचित् श्यामवर्ण। मैंने चरणों पर सिर रखकर परिचय देते हुए कहा 'सुदर्शन प्रणाम कर रहा है।'

'दादा', इस सम्बोधन के साथ मुझे दोनों हाथों से पकड़ हृदय से लगा लिया, लाठी नीचे गिर गई, जिसे पीछे मैंने ही उठाकर उनके हाथ में दिया। बहुत विचित्र लगा, क्योंकि आयु की दृष्टि से भी मैं उनके बच्चे के बराबर था। उनके सम्बोधन की कोई संगति मन में बैठती न थी।

उस समय तक अपने 'श्यामसुन्दर' को मैं मित्र तो मानता था, किन्तु मेरे मन में यह स्पष्ट नहीं था कि कन्हाई मुझ से बड़ा है या छोटा। यह बात तो बहुत पीछे, जब मैं नागपुर में था तब बनी। संसार में मेरे सम्बन्धियों में मेरा केवल छोटा भाई बचा था। अचानक पत्र आया। उसका शरीर नहीं रहा। जिसका संसार में कोई एक ही सम्बन्धी रहा हो और उसकी मृत्यु का समाचार आ जाय, तो मन की क्या दशा होती है, यह कोई भुक्त-भोगी ही जान सकता है। किन्तु हुआ यह कि कठिनाई से दो क्षण उस शोक का वेग रहा। सहसा, हृदय में श्रीकृष्ण ने प्रकट होकर कहा, 'दादा', मैं तेरा छोटा भाई हूँ।' शोक गया, बहुत कुछ मिला। उस दिन उस

समय यह भी याद आया कि प्रथम मिलन के समय श्री महाराज ने इसी 'दादा' से सम्बोधन किया था और तब मुझे इस सम्बोधन की सार्थकता समझ में आई। यह घटना सन् 1945 की है।

मैं गंगोत्री पहुँचा था। मेरे साथ देवी सत्यमूर्ति और उनके कोई सम्बन्धी साधु थे। श्रीकृष्णाश्रमजी महाराज के दर्शन करने गया। वे जाड़ों में भी गंगोत्री में दिगम्बर, बिना धूनी के रहा करते थे। उनकी ख्याति सुन चुका था। महामना पं० मदनमोहन मालवीय उनको हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास कराने के लिए वाराणसी लाये थे। मैंने उन्हें प्रणाम किया, देवी सत्यमूर्ति का परिचय दिया कि ये श्री स्वामी शरणानन्दजी महाराज की सगी छोटी बहिन हैं, इन्हें ढाई वर्ष का छोड़कर स्वामी जी ने गृह त्याग किया था। श्री कृष्णाश्रमजी महाराज मौन रहा करते थे। उन्होंने भूमि पर लिखा, 'स्वामीजी महाराज मेरे मित्र हैं।' मैंने पूछा, 'आप बहुत वर्षों से गंगोत्री में रहते हैं, श्री महाराज जी से आपकी मित्रता कैसे हुई?' उन्होंने लिखकर बतलाया, 'उन्होंने अकेले पाँच बार यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ की यात्रा की है। गंगोत्री आने पर मेरे पास ही ठहरते थे।'

आज भी सोचकर आश्चर्य होता है कि उस समय सड़कें नहीं थीं, बसें नहीं थीं, ऋषिकेश से ही पैदल जाना पड़ता था, मार्ग ऐसा था कि आँख वालों को भी गिर जाने का डर था, पहाड़ में आज भी चाहे जब मार्ग टूट जाया करता है, उस समय एक अकेला आदमी जो बिना आँख का है पाँच-पाँच बार इन तीर्थों की यात्रा कैसे कर सका? और इस यात्रा में भी कोई कम्बल या चद्दर साथ में नहीं रखी थी। श्री कृष्णाश्रमजी महाराज बराबर गंगोत्री में रहते थे, इसलिए उन्हें शीत सहने का अभ्यास हो गया था। किन्तु नीचे मैदानी क्षेत्र में रहने वाला कोई अचानक केवल कौपीन

लगाये यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ में पहुँच जाएगा, इसकी आशा आज भी नहीं की जा सकती है। यह तो उनका अपना तपोबल अथवा भगवत्कृपा ही संभव बना सकती थी।

वृन्दावन में सत्संग चल रहा था। मैं चुपचाप जाकर बैठ गया। किसी सज्जन ने अपने किसी स्वजन का नाम लेकर कहा कि उसके प्रति उनकी बहुत आसक्ति है, यह आसक्ति कैसे टूटे ? 'उसकी खूब अधिक सेवा करो', श्री महाराज ने यह संक्षिप्त उत्तर उसे दे दिया। वे प्रायः ऐसा ही सूत्र बोलते थे और व्याख्या करना उनके स्वभाव में नहीं था।

लेकिन उनका वह सूत्र मुझे कभी विस्मृत नहीं हुआ।

सन्त-वाणी

- *स्वधर्म पालन करने में आई हुई कठिनाइयों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करना परम तप है।*
- *बड़ी-से-बड़ी कठिनाई आने पर भी हार स्वीकार मत करो।*
- *सत्य की खोज के लिए सर्वस्व समर्पण कर दो।*
- *हृदय में मोह की अग्नि मत जलने दो।*
- *मृतक प्राणी का चिन्तन मत करो।*
- *वर्तमान परिस्थिति को संभालने का प्रयत्न करो, क्योंकि वर्तमान को सँभालने से बिगड़ा हुआ भूत तथा आने वाला भविष्य, दोनों अपने-आप सँभल जाते हैं।*

परदुःख-कातरता की साक्षात् मूर्ति

—श्री नारायण रेड्डी

पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज बहुत ही दयालु एवं प्रेमी सन्त थे। उनका अधिकांश समय भ्रमण में ही बीतता था। वे जहाँ कहीं भी जाते स्वयं अपना तो नहीं, परन्तु साथियों का बहुत अधिक ध्यान रखते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि एक बार जब वे दिल्ली पधारे तो स्टेशन से उन्हें अपने यहाँ ले जाने के लिए सेठ श्री जयदयाल जी डालमिया एक बड़ी कीमूती मोटर लेकर स्टेशन पर पहुँचे। स्वामी जी महाराज पहले अपने साथियों को सेठजी की कोठी पर भेजते गये और वे स्वयं कार के लौटने की प्रतीक्षा में बड़ी देर तक वहीं ठहरे रहे। मैंने स्वामी जी से निवेदन किया, 'महाराज ! आप कब तक यहाँ ठहरे रहेंगे। आप पहले सेठ जी के स्थान पर चलिए, हम लोग थोड़ी देर में आ जायेंगे।' उत्तर मिला—'अगर मैं पहले चला जाऊँ तो सेठजी भी मेरे साथ चले जायेंगे और आप लोगों की व्यवस्था ठीक तरह नहीं हो पायेगी।'

स्वामी जी के साथ हर यात्रा में दस-पद्रह सत्संग-प्रेमी सज्जन रहते थे, जिन्हें लोग शंकरजी की बरात कहते थे। परन्तु इस बरात के स्वागत-सत्कार और आतिथ्य का ध्यान जितना स्वामी जी को रहता था, सामान्यतया किसी भी घराती को अपने यहाँ आई हुई बरात का शायद ही इतना ध्यान रहता हो। इस सुख-सुविधा की व्यवस्था को किसी दूसरे पर न छोड़कर स्वयं अपने निरीक्षण में करवाते थे।

श्री महाराज जी परदु:खकातरता तथा सेवापरायणता की भी साक्षात् मूर्ति थे और मैं स्वयं अपने जीवन की घटनाओं के आधार पर कह सकता

हूँ कि इन विशेषताओं को चरितार्थ करते हुए वे अपने प्राणों तक की परवाह नहीं करते थे। एक बार वृन्दावन में बिजली का शॉक लगने पर जब मैं अचेत होकर मरणासन्न हो गया तब उन्हीं की कृपा, करुणा एवं स्नेह के परिणामस्वरूप मेरी प्राणरक्षा हो सकी और जब बच गया तब श्री महाराजजी ने मुझे कहा,—"देखो, तुम्हारा यह नया जन्म हुआ है, अब तुम अपने शेष जीवन को भगवान के समर्पण कर दो।"

सन्त-वाणी

- *अपने को शरीर कभी मत समझो।*
- *सर्वेन्द्रियों का ब्रह्मचर्य पालन कर, शरीर को शुद्ध कर लो।*
- *गुणों का भोग मत करो, क्योंकि भोग करने से विकास रुक जाता है।*
- *अपनी अच्छाई तथा दूसरों की बुराई भूल जाओ।*
- *दूसरों के दोष मत देखो, क्योंकि दूसरों के दोष देखने से दोषों से अकारण ही सम्बन्ध हो जाता है।*

वह तो आते आधे नाम

—श्री ठाकुर जगत सिंह झालामण्ड

मेरे पूज्य पिता श्री स्व० ठाकुर विजय सिंह जी झालामण्ड साधु-सन्तों के प्रेमी एवं श्रद्धालु थे। इन पर कृपा भाव रखने वाले सन्तों ने अभ्यासजन्य साधन नाम-जप आदि शुरु कराया। 'अजपा जप', जो नाम-जप के दीर्घकालीन अभ्यास से होता है, वह होने लग गया था। सन् 1949 में स्वर्गाश्रम में परमपूज्य गुरुदेव स्वामी शरणानन्द जी से भेंट हुई। पूज्य स्वामी जी की बातचीत एवं प्रश्नोत्तर की शैली ने पिता जी को बहुत प्रभावित किया।

ठाकुर साहब अपने नियम के बड़े पक्के थे। नित्य नियम से 200 माला पूरी करने के पश्चात् ही कोई काम करना आरम्भ करते थे। एक बार पू० स्वामी जी जोधपुर पधारे। यह बात सन् 1953-54 की होगी। पिता जी अपने साधन में निमग्न थे। पू० स्वामी जी सीधे उनके कमरे में चले गए एवं बड़े ही सहज भाव से बोले, "क्या हो रहा है ?" चरण-स्पर्श करके पिता जी ने कहा, "बाबा, बस थोड़ी सी माला और रह गई है।" श्री स्वामी जी महाराज ने आत्मीयता से किन्तु विनोदपूर्ण स्वर में कहा, "क्या उधार ले रखा है, जो गिन-गिन कर चुका रहे हो ? अरे भाई, वो तो आधे नाम पर ही आ जाता है। तुम प्रेम एवं अपनत्व से एक बार नाम ले लो, तुम्हारा काम बन जाएगा।"

सन्त-वाणी

- *अकिंचन, अचाह तथा अप्रयत्नपूर्वक साधक साध्य से अभिन्न होता है।*

जीवन के मार्मिक प्रसंग

(1)

बालक (श्री महाराजजी) जब तीन वर्ष का था, तो एक दिन किसी रमते योगी ने उसके द्वार पर अलख जगायी, और बालक जब माता के हाथ से आटे की कटोरी छीन कर 'हूँ दूँगों भिच्छा'—कहता हुआ योगी की ओर दौड़ा, तो योगी बालक की बड़ी-बड़ी आँखों से आकर्षित होकर उसके ललाट को एकटक निहारने लगा। भिक्षा लेना भूलकर बालक को उस तरह घूरते देख माँ के मन में संदेह तथा भय-मिश्रित भाव उत्पन्न हुआ और आगे बढ़कर उसने बालक को अपनी बाँहों के घेरे में लेते हुए योगी की दृष्टि से हटा लिया तथा हाथ से आटे की कटोरी लेकर योगी की झोली में भिक्षा डाल दी। 'तेरे लल्ला को हाथ देखना चाहूँ हूँ, मैया ! जु कहै तो देख लऊँ।' योगी ने माता से आज्ञा माँगी और सकुचाती हुई माता ने बच्चे की दाहिनी हथेली फैलाते हुए योगी के आगे कर दी। माता गौर वर्ण की थी और बच्चा साँवले रंग का। तभी योगी के मुँह से निकला, 'तौ जि बात है ! जसोदा ने कारो जायो है !' बात चाहे जिस उद्देश्य से कही गयी हो, माता ने उसे व्यंग्यात्मक भाव में ही लिया। इधर योगी बच्चे की मुलायम और गुलगुली हथेली को अपने अँगूठे से इधर-उधर खींचता हुआ देख-देखकर मुस्करा रहा था और उधर माता बालक का भविष्य जान लेने को उतावली हो रही थी। माता को बात अच्छी तो नहीं लगी, फिर झुककर उसने योगी को दण्डवत् प्रणाम किया और विनयपूर्वक बाली—

"कोऊ अच्छौ वरदान देते जइयो महाराज, मेरे छोरा को।"

तो योगी यह कहता हुआ लम्बे डग भरने लगा कि—

"तेरो लाला कै तो बड़ो राजा होगो, नहीं तो सिद्ध जोगी तो होगो ही, या मैं तो कोऊ संदेह नाय। विधि के विधान कूँ को टार सक्यो है, मैया? रामऊँ को वन जानो पड़्यो हतो, मेरी-तेरी तो बात ही कहा है।" लम्बे डग भरता हुआ योगी गाता जा रहा था—

"मुनि वशिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोधि कै लगन धरी।
सीता हरण मरण दशरथ को वन में विपति परी।"

(2)

बचपन की बात है। प्रीति के लिए ही जैसे बना हुआ हृदय, मैत्री-भाव छलकता रहता। तेज हवा चलती, बगीचों में पके आम टपकते। मुहल्ले के बच्चों के साथ यह अनुरागी-हृदय बालक भी आम खाने के लिए दौड़ जाता। आम उठाया, एक बार चूसा, रस अगर मीठा लगा तो झटपट दोस्त की याद आ गयी—"अरे, यह तो बढ़िया आम उसको खिलाऊँगा।" देखा आपने! आम खाने का सुख प्यारे मित्र को आम खिलाने के रस में बदल गया! कैसी अद्भुत रचना है! कैसा प्रेमी हृदय है! मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि बाल्यकाल में व्यक्ति आत्म-केन्द्रित होता है, अपना ही सुख पसंद करता है। आगे चलकर सामाजिकता के प्रभाव से सुख बाँटना सीखता है। यह लक्षण उस बालक पर लागू नहीं होता, जो भोग और मोक्ष—सब कुछ उस अनन्त पर न्यौछावर करके उसको आनन्दित करने वाला, उसका नित्य सखा होने जा रहा है। परमात्मा का अभिन्न मित्र होकर उसने डंके की चोट प्रेम-पथ के साधकों को सुनाया कि परमात्मा को रस देने के लिए उसको प्यार करो।

(3)

'शरीर विश्व के काम आ जाये', इस सत्य को सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत व प्रतिपादित किया गया बहुत पीछे, परन्तु बीज रूप में यह सर्वहितकारी भाव उनमें विद्यमान था जन्म से ही, बचपन से ही इसके लक्षण प्रकट होने लगे थे उनमें। उन्हीं के श्रीमुख से हमने सुना है, "मुझे दूसरों के काम आने का बचपन से ही बड़ा शौक रहा है। जब चिट्ठीरसा गाँव में आता तो मैं उसके पीछे-पीछे डोलता था, क़्योंकि गाँव में अधिक लोग निरक्षर भट्टाचार्य थे। मैं ही थोड़ा-सा पढ़ा-लिखा था। जब लोग कहते कि लल्ला, जरा पढ़कर सुना देना, तो बड़ा मजा आता लल्ला को।" कैसी लगन है ! कोई मदद की आवश्यकता अनुभव करेगा, इसलिए स्वयं पहले ही वहाँ उपस्थित हो जाने में, ऐसा मजा लेने में, कितना सयानापन है। दूसरों के काम आने वाली लगन जो सीमित सामर्थ्य के बालक में अंकुरित हुई थी वह त्रिगुणातीत ब्रह्मनिष्ठ संत हो जाने के बाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची और निकटवर्तियों ने शरीर-नाश के अंतिम क्षणों में सर्वात्म-भाव से भावित उस महामानव को अपने परम सुहृद् से सबका कल्याण करने के लिए कहते हुए सुना।

(4)

'योग: कर्मसु कौशलम्', यह लक्षण भी बाल्यकाल में ही प्रकट होने लगा था। श्री महाराजजी ने स्वयं ही सुनाया था कि—"मुझे पढ़ने जाने का बड़ा शौक था। पिता के घर से कुछ दूर दूसरे गाँव में पढ़ने जाता था और लालटेन की रोशनी में चलने का भी बहुत शौक था। अत: स्कूल से आते समय खेल कूद में, जान-बूझकर थोड़ी देर कर देता और लालटेन जलाकर हाथ में लेकर थोड़ा अँधेरा होने पर घर आता। एक दिन घर

पहुँचने पर पता चला कि लालटेन की ढिबरी रास्ते में कहीं गिर गई है। इससे मुझे बड़ी तकलीफ हुई। दूसरे दिन रविवार था। स्कूल नहीं जाना था। इस कारण उस दिन भी बड़ी बेचैनी रही। मेरे द्वारा ऐसी भूल क्यों हुई? भूल की तकलीफ मिटाने के लिए लालटेन की ढिबरी को खोजना था। सारा दिन, सारी रात बेचैन रहने के बाद सोमवार के दिन जब घर से स्कूल के लिए चला तो अपने दरवाजे से ही पूरे रास्ते भर आँखें गड़ा-गड़ा कर लालटेन की ढिबरी को खोजता हुआ गया। छोटी-सी चीज थी, दो दिन बीत गये थे। रास्ते में पड़ी हुई चीज किसी ने उठा ली होगी। मिलने की आशा तो बहुत कम थी, परन्तु गलती हो जाने की तकलीफ और ढिबरी को खोजने का चाव बहुत प्रबल था। चलते-चलते स्कूल पहुँचने से पहले ढिबरी मिल गयी और मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।" आप सोचिये, लालटेन की ढिबरी जैसी मामूली चीज का खो जाना कोई खास बात नहीं थी। अच्छे सम्पन्न परिवार का इकलौता लड़का, एक लालटेन बिना ढिबरी की हो गयी तो माता-पिता बालक के लिए दो-चार नयी लालटेनें खरीद सकते थे, परन्तु बालक को अपनी कार्यकुशलता में कमी का बड़ा भारी दु:ख था। संत हो जाने पर उसी जीवन में से यह सत्य उद्भासित हुआ कि यदि एक गिलास जल सही ढंग से पिलाना नहीं आता है तो ध्यान करना नहीं आयेगा। छोटे-से-छोटा काम करने में भी जो असावधानी करता है वह करने के राग से मुक्त नहीं हो सकता। राग-रहित हुए बिना योगवित् होना संभव नहीं है। उनके प्रेमी मित्र इस बात को खूब अच्छी तरह जानते हैं कि आँखों से देखकर उतनी अच्छी तरह वस्तुओं को हम नहीं सँभाल सकते जितनी अच्छी तरह श्री महाराजजी बिना देखे सँभालते थे।

(5)

अद्‌भुत प्रतिभा-सम्पन्न बालक की आँखें बड़ी गजब की थीं। एक बार स्कूल इन्सपैक्टर आया! वर्ग-कक्ष में बच्चों से बातें करने लगा। परन्तु रह-रहकर उसकी दृष्टि इस बालक पर अटक जाती थी। आखिर उसके मुँह से निकल ही गया—'इस बच्चे की आँखें गजब ढाती हैं।' उन गजब ढाने वाली आँखों ने बालक का साथ बचपन में ही छोड़ दिया। बालक अत्यन्त दु:खी हो गया। पढ़-लिखकर वकील होने की उसकी कल्पना बिखर गई। अरमानों को गहरी ठेस लगी। सारा परिवार दु:खी हो गया। "अपने दु:ख से मैं दु:खी होता था और मुझे रोता हुआ देखकर माता-पिता और बहनें सब रोने लगतीं। उनको रोते हुए सुनकर मैं और अधिक दु:खी होता—मैं यहाँ तक सोचने लग जाता—हाय! मेरा जन्म लेना कितने लोगों के लिये दु:खदायी हो गया है। मेरा जन्म न होता तो दु:ख का यह चक्र न चलता।"

(6)

दृष्टि-हीन हो जाने की अपनी दशा पर स्वयं बालक को इतना दु:ख हुआ था कि माता-पिता घबरा उठे। बच्चा बाँस की छड़ी टेकता और टटोल-टटोल कर चलता। सुबह से ही निकल जाता और आबादी से बाहर जाकर अपना समय गुजार देता—जैसे, अब वह घर का सदस्य ही नहीं रह गया था। इसी तरह जाड़ों के एक दिन जब वह घर लौटा तो उसके बदन का गर्म कुरता गायब था। फिर एक दिन बदन पर लिपटी हुई लोई भी नदारत थी। बहुत पूछने पर उसने केवल इतना बताया कि किसी रमैया को सर्दी में ठिठुरते सुनकर उसने लोई उसे दे दी थी, क्योंकि 'उसकी जरूरत मुझ से अधिक थी।'

(7)

दस-ग्यारह साल के बालक में यह प्रश्न पैदा हो गया था कि "ऐसा भी क्या कोई सुख होता है जिसमें दुःख न शामिल हो?" एक दिन पिताजी किसी से बातें कर रहे थे। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा कि "ऐसा सुख साधुओं को होता है जिसमें दुःख नहीं रहता।" होनहार, मेधावी सजग बालक को जीवन की राह मिल गई। उसने निश्चय कर लिया, "आँखों के चले जाने से पढ़ना-लिखना संभव नहीं, और सब दरवाजे तो मेरे लिए बंद हो गये, मैं और कुछ नहीं कर सकता, परन्तु साधु तो हो सकता हूँ।" उसी बालक ने साधु होकर दुःख-रहित जीवन का आनन्द स्वयं पाया। घोर पराधीनता से उच्चतम जीवन की यात्रा आरम्भ करने वाला परम स्वाधीन हो गया। सर्वात्म-भाव से भावित हृदय उमड़ पड़ा और आज आप उनके सिद्धान्तों एवं साधन-प्रणालियों में प्रत्यक्ष उनके जीवन की इस व्यग्रता को अनुभव कर सकते हैं कि उन्होंने असमर्थ से असमर्थ को भी स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता के साम्राज्य में पहुँचाने का मार्ग किस प्रकार प्रशस्त किया।

(8)

दिल में धुन लगी है कि साधु कैसे हो जाऊँ। आँखों की ज्योति नष्ट हो जाने से चेहरा कैसा दिखता होगा, इस दुःख के मारे घर से बाहर निकला नहीं जाता था। साधु होने की बात सुनना भी माता-पिता सहन नहीं कर सकते थे। साधुओं से मिलने-जुलने के लिये कैसे जाऊँ? कहाँ जाऊँ? कौन ले जाय? बड़ी भारी बेबसी थी। फिर भी, दूसरों की दया का पात्र होकर जीने की बात सोचना भी बालक सह नहीं सकता था। मिलने-जुलने वाले, सगे-सम्बन्धी, जिस किसी से बातचीत होती, केवल सत्संग की ही चर्चा होती, क्योंकि जीवन में एक ही धुन रह गई थी—साधु

कैसे बनूं? एक दिन एक संत आये। दरवाजे पर, चौकी पर उनका आसन लगा। पास ही जमीन पर दुःखी बालक चौकी पकड़कर बैठा था। हित-चिंतकों ने संत को दुःखी बालक का दुःख सुना दिया। संत ने कहा—

"भैया!" राम-राम कहा करो।" बालक ने कहा—"मेरा राम-नाम में विश्वास नहीं है।" संत ने कहा, "कोई बात नहीं। ईश्वर को तो मानते हो?" बालक ने कहा, "हाँ! ईश्वर को मानता हूँ।" इस पर संत ने कहा कि "अच्छी बात है, ईश्वर के शरणागत हो जाओ।" संत ने कहा, बालक ने सुना। संत की वाणी जादू का काम कर गई। संत होने के बाद अनेक अवसरों पर श्री मुख से ऐसा कहते सुना गया है—"प्रभु के शरणागत होने की बात जीवन में ऐसी लग गई कि जब से सुना, प्रत्येक क्षण शरण्य से मिलने की धुन तीव्र होती चली गई। रह-रहकर हृदय में हुलास उठती रहती—शरण्य से कैसे मिलूँ?" सत्य की स्वीकृति से साधना की अभिव्यक्ति होती है—जीवन का यह सत्य बालक में प्रत्यक्ष हुआ। जप, ध्यान, स्मरण कुछ करना नहीं पड़ा; स्वतः होने लगा।

(9)

बालक का हृदय प्रेमी तो था ही। अन्धे हो जाने से प्रिय कुटुम्बी-जनों का स्नेह इस बालक के प्रति अधिकाधिक उमड़ने लगता। एक दिन की बात है कि चचेरे भाई, उनकी पत्नी इस बालक के साथ एक ही बिस्तर पर लेटे-लेटे प्यार की बातें कर रहे थे। भाभीजी को देवर के साधु होने की बात याद आ गई। उन्होंने प्रेमभरे गद्गद् कण्ठ से कहा कि "आप साधु हो जायेंगे, तो इस प्यार को कौन निभाएगा?" बालक ने सुना। ज्ञान का प्रकाश, असाधारण बुद्धि में बिजली की तरह कौंध गया। उसने उत्तर दिया—"हम लोग यहाँ लेटे-लेटे प्रेमभरी बातें कर रहे हैं, बड़ा

अच्छा लग रहा है। यह अच्छा लगना कब तक रहेगा?" अभी थोड़ी देर में हमें नींद सतायेगी और हम सब अलग-अलग होकर सो जायेंगे, फिर यह अच्छी लगने वाली परिस्थिति कहाँ रहेगी?" भाई-भाभी से उत्तर देते नहीं बना। बालक के जीवन में यह सत्य प्रकट हो गया कि अच्छी लगने वाली परिस्थिति रहती नहीं है। उसका आश्रय लेना असत्य है।

(10)

संत की वाणी ने मंत्र का कार्य तो कर ही दिया था। जीवनी में साधुता का विकास आरम्भ हो गया था, परन्तु संन्यास लेना बाकी था। राह दिखाने वाले संत आवश्यकतानुसार समय-समय पर आते रहते थे। संन्यासी होने की उत्सुकता को सुनकर उन्होंने आदेश दिया, "माता-पिता के जीवन-काल में तुम उन्हें मत छोड़ो। धीरज रखो, जो तुम्हें छोड़ता जाय, उसे तुम छोड़ते जाओ।" गुरु के आदेश में अविचल निष्ठा थी। कुछ ही दिनों के भीतर मोह का घेरा डालने वाले कुटुम्बी-जन एक-एक कर दिवंगत होते गए, संन्यास लेने के लिए उत्सुक किशोर सबसे नाता तोड़ता गया। अब एक विकट परिस्थिति सामने आई। परपीड़ा से द्रवित किशोर में एक चिन्तन आरम्भ हुआ—"अम्मा नहीं रहेंगी तो पिताजी दु:खी रहेंगे। पिताजी नहीं रहेंगे तो अम्मा रोयेंगी। मैं अंधा बालक कुछ कर नहीं सकता। अम्मा का दु:ख मुझसे कैसे देखा जायेगा? कितना अच्छा होता कि ये दोनों एक साथ चले जाते।" और वही हुआ। माता-पिता दोनों का देहान्त 2-3 घंटों के आगे-पीछे हो गया! कैसे हो गया, किसने किया—कौन कहे!

(11)

अब तक 18-19 वर्ष की उम्र हो गई थी। बड़ी उत्सुकता से गुरु-आगमन की प्रतीक्षा हो रही थी। नाते-रिश्ते, अड़ौसी-पड़ौसी, वृद्ध एवं

समवयस्क लोगों की ओर से तरह-तरह के सुझाव आने लगे—सम्पत्ति काफी है, बैंक में जमा कर दो और फिर दरवाजे पर बैठकर चैन से राम-भजन करो। प्रस्ताव सुनकर युवक तिलमिला उठता। बिचारे मोह में पड़े-सने लोग समझ नहीं पाते थे कि जिसने सर्व-सामर्थ्यवान की शरण ली है वह भला संग्रहीत सम्पत्ति के सहारे कैसे बैठ सकता है। उन्हें बड़ा आश्चर्य होता, जब वे युवक के मुँह से ध्रुव-निश्चय की दृढ़ता के साथ यह सुनते— "तुम लोग मुझे सम्पत्ति के अधीन रखना चाहते हो, मैं ऐसा नहीं करूँगा।" भीतर से संन्यास तो सिद्ध हो ही गया था, अब बाहर से संस्कार पूरे करने के दिन आ गये। अन्य संतों-भक्तों की मंडली लेकर सद्गुरुदेव एक दिन पधारे और आदेश दिया, "अब समय आ गया है—घर के दरवाजे सब खोल दो—गाँव के लोग जो चाहें सब उठा ले जायें—तुम मेरे साथ चलो।" ऐसा ही हुआ। शरण्य से मिलने की लगन ने, संन्यासी होने की तीव्र अभिलाषा ने, लोभ-मोह का अन्त पहले ही कर दिया था। एक क्षण की देर नहीं लगी। गुरु ने जैसा कहा, शिष्य ने वैसा ही किया। निकटवर्ती जनों में स्नेह का भाव उमड़-उमड़ कर आँखों से बहने लगा। युवक ने प्रेम-पूर्वक सबका समाधान किया और गुरु के पीछे चल दिया। उस समय से अन्त तक संन्यास-धर्म का बड़ी दृढ़ता के साथ स्वामीजी ने पालन किया। अन्धे होने के कारण कभी भी संन्यास-धर्म के पालन में कोई कमी नहीं आने दी। संन्यास देने वाले गुरु ने चलते समय कह दिया, 'बेटा! जब तुम आजाद हो जाओगे, तो सारी प्रकृति तुम्हारी सेवा के लिए लालायित रहेगी।' चराचर जगत तुम्हारी आवश्यकता-पूर्ति के लिए तत्पर रहेगा। वृक्ष तुम्हें फल-फूल देंगे और खूँखार शेर तुम्हें गोद में लेकर तुम्हारी रक्षा करेंगे।

"जीते जी मर जाय, अमर हो जावे,
दिल देवे सो दिलबर को पावे"

स्वामीजी ने गुरुवाणी को सर्वांश में धारण किया और उसे जीवन में शत-प्रतिशत फलित होते देखा।

(12)

गुरु के पास बैठे-बैठे एक दिन तेजोमय युवक संन्यासी के मन में उपनिषद् पढ़ने का संकल्प उठा। सद्गुरुदेव ने बिना पूछे ही उत्तर दिया—'ठहरी हुई बुद्धि में सब वेद-शास्त्र, उपनिषदों का ज्ञान स्वतः प्रकट होता है। पाठशाला है एकान्त और पाठ है मौन।' प्रश्न का उत्तर मिल गया। संत ने जो कहा, स्वामी जी ने उसे किया और वे प्रज्ञाचक्षु हो गये। 'मैं', 'यह' और 'वह' का प्रत्यक्ष बोध हो गया। फिर तो यह परिणाम हुआ कि उस बेपढ़े-लिखे की बात सुनकर बड़े-बड़े विद्वद्वरेण्य भी चकित होने लगे।

(13)

रात्रि का समय है। गाँव के बाहर खेत की मेंड़ पर विरही साधु रात्रि-जागरण कर रहा है। रात्रि के निविड़ अंधकार में आस-पास से, दूर-दूर से खेत रखने वालों की आवाज सुनाई देती है। विरही साधु में प्रिय-मिलन की लौ और तेज होती है—'ये खेत रखाने वाले मुट्ठी भर अन्न के लिए सारी रात जगते हैं। मैं शरण्य से मिलना चाहता हूँ और सोऊँ?" विरह की लहर तीव्र हो जाती है। सवेरा होने का आभास पाकर ही विरही संन्यासी नित्य-कर्म के लिए उठ बैठता है।

(14)

एक परिचित गृहस्थ के यहाँ आज बड़ी भीड़-भाड़ है। नव-विवाहिता ननद ससुराल से पीहर आई है। भाभियाँ दिल्लगी में पूछ रही हैं—"बीबी जी कैसा लग रहा है?" नवोढ़ा दिल की कसक के साथ कह रही है—"भाभी जी! दिन में अँधेरा-अँधेरा दिख रहा है।" पास ही

में बैठे, प्रभु-प्रेम के प्यासे, स्वामी जी भीतर-भीतर तड़प उठे —"प्रेम करना तो ये जानती हैं। प्रिय के बिना इनको दिन में भी अँधेरा दिख रहा है, और एक मैं हूँ कि अपने को शरणागत कहता हूँ और शरण्य से मिले बिना चैन से रहता हूँ।" प्रिय-मिलन की उत्कण्ठा तीव्रतर होती जा रही है।

(15)

उत्कण्ठा बढ़ती गई। सम्पूर्ण अहं को उत्कण्ठा बनाकर वह शरणागत शरण्य से मिलने के लिए व्याकुल हो उठा। गर्मी के दिन हैं। दो-मंजिले मकान पर छत के ऊपर टिन के शेड के नीचे निर्विघ्न बैठे हैं। प्यास लगी है। पास में जल भी रखा है, परन्तु प्रिय से अभिन्न होने की उत्कण्ठा इतनी तीव्र है कि जल पिया नहीं जाता। 'नहीं, सत्य मिले पहले, जल पीऊँ, पीछे। यदि जल पीते ही पीते प्राण-पखेरू उड़ गये तो।' फिर क्या था। माँग की जागृति में ही माँग की पूर्ति निहित है, यह सत्य जीवन में प्रत्यक्ष हो गया।

(16)

गुरु के शरीर के शांत होने का समय आया। स्वामीजी महाराज ने गुरु से कहा—"आपका शरीर कुछ काल और रह जाता तो मेरी साधना के लिए अच्छा रहता।" यह सुनकर श्री सद्गुरुदेव ने उत्तर दिया कि "ऐसा क्यों सोचते हो? मेरे अनेकों शरीर हैं, तुम्हें जब आवश्यकता होगी मैं मिल जाऊँगा।" सद्गुरु के सद्शिष्य ने गुरु-वाणी को गाँठ बाँध लिया, उसके बाद अनेकों बार का अनुभव उन्होंने निज श्रीमुख से हमें सुनाया है कि साधन की दृष्टि से जब-जब स्वामीजी के दिल में कोई प्रश्न उठता, तत्काल कोई न कोई संत मिल जाते और समाधान कर जाते। श्री महाराजजी को यह पक्का अनुभव हो गया कि उनके सद्गुरु के अनेकों शरीर हैं और किसी-न-किसी रूप में वे मार्ग-दर्शन कर देते हैं। इतना

निश्चय होते ही श्री स्वामी जी महाराज निश्चिन्त हो गये। एक समय एक समस्या को लेकर गंगाजी के तट पर अकेले बैठे थे। गुरुदेव की याद आई। श्री स्वामीजी ने तुरंत सोच लिया कि जब अनेकों शरीर गुरुदेव के हैं तो यह एक शरीर भी तो उन्हीं का है। किसी भी शरीर के माध्यम से जब वे मार्ग दिखा सकते हैं, तो यह शरीर भी तो उनका ही अपना है। इसके माध्यम से भी वे मेरी मदद कर सकते हैं। इतनी बात ध्यान में आने भर की देर थी कि समस्या हल होने में देर नहीं लगी। फिर तो गुरु-तत्त्व को अपने ही में विद्यमान जानकर बाह्य गुरु की आवश्यकता को ही उन्होंने समाप्त कर दिया। शरीर के लिये संसार का आश्रय तो वे पहले ही छोड़ चुके थे, अब गुरु-तत्त्व को स्वयं में ही विद्यमान जानकर इस दिशा में भी वे सर्वथा स्वाधीन हो गये। भीतर-बाहर परमानन्द छा गया।

(17)

देश में स्वातंत्र्य-आन्दोलन चल रहा था। महात्मा गाँधी के निर्देशन पर सारे देश में विदेशी सरकार के साथ असहयोग एवं विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की धूम मची थी। सरकार के द्वारा दमन का चक्र चल रहा था और गुलामी की घुटन में से नित नये आजादी के दीवाने प्रकट हो होकर जन्मसिद्ध स्वराज्य पाने के लिये हँसते-हँसते फाँसी की तख्ती चूम रहे थे। श्री स्वामीजी महाराज जैसा सर्वांश-परिपूर्ण व्यक्तित्व वाला निर्भीक, दिलदार, उत्साही भला देश की सेवा की लहर से अछूता कैसे रह जाता? वे कूद पड़े स्वतंत्र्य-आन्दोलन की लहर में। भाषणों के द्वारा स्वाधीनता के प्रति जन-जागरण की सेवा, विदेशी कपड़ों की दुकान पर 'पिकेटिंग' करना, जेल जाना—सब कुछ किया। बाल-मुड़ाये हुए चिकने-चिकने सिर पर पुलिस की लाठी खाने में बड़ा मजा आयेगा—इस उत्साह से भरकर पिकेटिंग में व्यस्त नेत्रहीन युवक-संन्यासी को देखकर बेजान लोगों में भी

जान आ जाती थी। एक दिन स्वामीजी महाराज के गुरुदेव के मित्र एक संत महापुरुष ने इनको बड़े जोर-शोर से स्वराज्य के आन्दोलन में लगा हुआ देखकर इनके पास आकर बड़े प्यार से पूछा—'बेटा, क्या तुमने इसलिए घर छोड़ा था?' स्वामीजी महाराज ने बड़ी दृढ़ता के साथ स्पष्ट उत्तर दिया—'बिल्कुल नहीं। देश की सेवा के राग को मैं विचार से नहीं मिटा सका इसलिए इस कार्य में लग गया हूँ।'

पुनः उक्त संत महापुरुष ने पूछा—'तुम्हारा हाल क्या है?' स्वामीजी ने उत्तर दिया—'मैं सर्व-काल में अपनी अखण्ड शान्ति में विराजमान हूँ, मैं करता-कराता कुछ नहीं हूँ।' यह उत्तर सुनकर वे संत बहुत प्रसन्न हुए। बड़े प्यार से स्वामी जी महाराज की पीठ थपथपाई और यह कहकर चले गये कि 'खूब सेवा करो।'

(18)

"एक बार मथुरा से आगरा जाते समय मैं (श्री स्वामीजी महाराज) यमुना के किनारे-किनारे जा रहा था। एक स्थान पर ढाह गिरी और हम पानी में जा पड़े। नदी चढ़ी हुई थी। हाथ की लाठी भी छूट गयी थी। दिखाई देता नहीं था कि किधर को तैरें। भगवान के भरोसे शरीर को ढीला छोड़ दिया। लगा जैसे किसी ने हाथ पकड़कर खुश्की पर डाल दिया। उठने को हाथ धरती पर टेका तो (पहली वाली नहीं) एक दूसरी लाठी हाथ में आ गई थी।"

गीता में कथित भगवत्वाणी श्री महाराजजी के लिए प्रत्यक्ष हो गई—"जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मेरे चरणों के नित्य आश्रित हैं, उन जीवों के योग-क्षेम का मैं वहन करता हूँ।" गीता में जो कहा था श्री महाराजजी के साथ वह करके दिखा दिया। शरण्य और शरणागत की जगत्पावनी मधुमयी लीला धन्य है।

(19)

साधुशाही रहती थी। गाँव के किनारे शाम के समय किसी स्थान पर ठहरना था। विवेक-विरोधी वातावरण देख श्री स्वामीजी महाराज वहाँ से रात्रि में ही चल दिये। सारी रात चलते रहे। शरीर बहुत थक गया था। नौका से पार होते समय मल्लाह ने भजन गाया, जिसका आशय यह था कि 'श्याम का दास हो गया बेदाम का।' भजन सुनकर स्वामीजी के हृदय में प्रीति का भाव उमड़ पड़ा। उसी मस्ती में नदी के पार उतर-कर अकेले ही चल पड़े। नदी का कछार कँटीला था, जमीन दलदल थी, किसी से रास्ता पूछने का उनका नियम नहीं था। स्वयं रास्ता बताने वाला कोई राही वहाँ नहीं था। बिना देखे, बिना जाने, थका-माँदा शरीर और विरह से उमड़ता हुआ हृदय; श्री स्वामी जी महाराज जिधर ही कदम रखें, पैर काँटों और दलदल में फँस जाय—शरणागत की रक्षा में उपस्थित होने का अवसर शरण्य को मिला। एक व्यक्ति आया और कहने लगा कि 'बाबा! अमुक गाँव को जा रहे हो क्या? मुझे भी वहीं जाना है। चलो मेरे साथ और देखो भाई, मैं बहुत थका हुआ हूँ, धीरे-धीरे चलूँगा।' ऐसा कहकर वे श्री स्वामीजी महाराज को काँटा-कुशा से बचाकर ठीक रास्ते से निकालकर लिवा गये। जब गाँव नजदीक आ गया और पक्की सड़क आ गयी तो यह कह करके गायब हो गये कि मुझे यहाँ से दूसरी तरफ जाना है। श्री स्वामीजी महाराज को उनका आत्मीय व्यवहार एवं कुसमय में उनका सहारा प्रेम-भाव को अति तीव्र करने वाला मालूम हुआ। विरह आँखों से छलकने लगा। हृदय में प्रतिध्वनि होने लगी—हे मेरे प्यारे, कितना ध्यान रखते हो! बिना बुलाये आ गये! जिधर मुझे जाना था उधर के ही राही बने! और प्यारे, जैसी मेरी थकी हुई दशा थी जिसमें मैं खुद ही जल्दी-जल्दी नहीं चल सकता था, वैसी ही थकी हुई दशा अपनी बनाकर धीरे-धीरे मुझे चलाकर गाँव तक पहुँचा दिया! तुम्हारी महिमा अपरम्पार है!

(20)

प्रेम-रस में डूबे, फिर भी बाह्य दृष्टि से बड़े ही सजग, निर्भीकता-पूर्वक रास्ते चलते हुए बाबा से किसी ग्रामीण ब्रजवासी ने बड़े प्यार से पूछा—बाबा ! लाला-लाली के प्रति आपका क्या भाव है ? स्वामीजी ने उत्तर दिया—भैया, मैं तो प्रिया-प्रियतम का फुटबॉल हूँ। वे चाहे जिधर ठुकरा दें उधर चला जाता हूँ। इसमें बड़ा रस है। दोनों की दृष्टि मुझ पर लगी रहती है। प्रियतम प्रिया की ओर फेंकते है; दोनों के चरण-स्पर्श के आनन्द में आनन्दित रहता हूँ। मेरा अपने में अपना कुछ नहीं है। अनुपम खिलाड़ी के हाथ का खिलौना हूँ। वे दोनों मुझे बहुत प्यार करते हैं।

(21)

किसी महापुरुष की जीवनी इसलिए लिखी जाती है कि पाठकगण उससे प्रेरणा प्राप्त कर अपने जीवन को उन्नत बनाने में उसका उपयोग कर सकें। इस दृष्टि से श्री स्वामीजी महाराज की जीवनी लिखने का संकल्प परिचित मित्रों के मन में बार-बार उठता रहा है। परन्तु श्री स्वामीजी महाराज ने इस बात को कभी भी पसन्द नहीं किया कि उनकी जीवन-गाथा लिखी जाय। एक आदर्श शरणागत संत के रूप में उन्होंने परमात्मा की ही महिमा को धारण करना एवं प्रकाशित करना पसन्द किया। उन्होंने ज्ञान और प्रेम को ही दिव्य-चिन्मय तत्त्व के रूप में प्रकट करना पसन्द किया। अपने सीमित अहम् के लेश-मात्र का भी उल्लेख उन्हें प्रिय नहीं था। उनकी अमर वाणी है—

(1) मेरा कुछ नहीं है,

(2) मुझे कुछ नहीं चाहिए,

(3) मैं कुछ नहीं हूँ।

विविध प्रसंग

(1) अहंशून्य व्यक्तित्व

सर्व सेवा संघ ने श्री महाराज जी के जीवन-दर्शन और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में एक पुस्तक प्रकाशित करने का निश्चय करके उसकी जिम्मेदारी सौंपी प्रसिद्ध साहित्यकार श्री जवाहरलाल जी जैन को। श्री जैन इस सन्दर्भ में जानकारी प्राप्त करने के लिए श्री महाराज जी से मिलने वृन्दावन आए। पहली ही भेंट में श्री महाराज जी ने बहुत मीठे शब्दों में अपनी जीवनी के सम्बन्ध में तथा अपनी जीवनी लिखी जाने के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से इन्कार कर दिया। श्री जवाहर लाल के दोनों हाथ अपने हाथों में लेकर बहुत भावपूर्ण शब्दों में कहा—"जैन जी ! आप मेरी जीवनी लिखने का विचार बिल्कुल छोड़ दीजिए। जो कुछ आपको लिखना है, मानव सेवा संघ की विचार धारा के सम्बन्ध में लिखिए। मानव सेवा संघ ही मेरा स्वरूप है।" यह सुन कर श्री जवाहर लाल जैन दंग रह गये। उनकी आँखों में आँसू छलक आए।

कुछ समय पश्चात् एक पत्रकार महोदय के इसी प्रकार के प्रश्नों का उत्तर अहंशून्य सन्त ने कुछ दूसरे ढंग से इस प्रकार दिया—

प्रश्न—श्री महाराज जी, हम आपका परिचय जानना चाहते हैं?

उत्तर—शरीर सदैव मृत्यु में रहता है और मैं सदैव अमरत्व में रहता हूँ, यह मेरा परिचय है।

प्रश्न—श्री महाराज जी, हम आपकी जीवनी लिखना चाहते हैं?

उत्तर—मेरी जीवनी है "दुःख का प्रभाव।" लिख लो।

प्रश्न—स्वामी जी महाराज ! यहाँ का प्रोग्राम पूरा करके आप कहाँ जाएँगे?

उत्तर—गेंद को क्या पता है कि खिलाड़ी उसे किधर लुढ़काएगा।

(2) स्वामी जी : एक विलक्षण संन्यासी

श्री गिरिवर शरण अग्रवाल पू० स्वामी जी महाराज के समान आयु के थे तथा उनसे संन्यास के प्रारम्भिक दिनों से मित्रवत सम्पर्क में रहे थे। उन्होंने अपने संस्मरण में लिखा है कि स्वामी जी के गुरु महाराज उनके कस्बा जलेसर, जिला एटा (उ० प्र०) स्थित बगीचे में रहते थे तथा स्वामी जी उनसे मिलने वहाँ आते थे। जब वे अपने गुरु जी से साधु होने की इच्छा प्रकट करते तो वे कह देते हैं कि अभी समय नहीं आया है।

एक दिन स्वामी जी महाराज व्याकुल होकर घर से निकल पड़े, स्टेशन आए और जलेसर रोड का टिकट लेकर गाड़ी पर चढ़ने ही वाले थे कि प्रभु कृपा से उनके गुरु महाराज उसी गाड़ी से उतरे। गुरु महाराज ने इनके कन्धे पर हाथ रखा और कहा कि चलो अब समय आ गया है। तत्पश्चात् उन्हें विधिवत् संन्यास देकर गुरु महाराज, स्वामी जी को अग्रवाल जी के ही बगीचे में उस फूस की छत वाली कोठरी में, जिसमें वे स्वयं रहते थे, छोड़कर चले गए। उसके पश्चात् अग्रवाल जी ने गुरु महाराज को फिर नहीं देखा। गुरु जी की उर्दू की शायरी की एक छोटी पुस्तक स्वामी जी महाराज ने सार्वजनिक आर्थिक सहयोग से छपवाई थी और जिन्होंने चार आने का भी सहयोग दिया उनका नाम भी सूची में दिया।

प्रारम्भिक काल से ही संयम, स्वावलम्बन तथा भगवत्-प्राप्ति की व्याकुलता आप में चरमसीमा की थी। अकेले रहना, लाठी के सहारे टटोल-टटोल कर चलना, कुँए से जल भी अधिकतर स्वयं ही निकालना, किसी कार्य के लिए बाग के नौकर या किसी अन्य से याचना न करना उनका सहज स्वभाव था। अभिमान शून्य, सरल और हँसमुख होने के कारण वे बहुत कम समय में ही लोकप्रिय हो गए। स्वरूप-स्थिति,

आत्म-साक्षात्कार अथवा भगवत्-प्राप्ति उन्हें बहुत शीघ्र हो गई लेकिन प्रवचन देना तब तक शुरु नहीं किया जब तक ज्ञान का पूर्ण रूपेण विकास नहीं हो गया।

अपने कष्ट का कारण किसी अन्य को न मानना उनका सहज स्वभाव था। एक बार अग्रवाल जी के मुहल्ले में एक भैंसा गाड़ी का लोहे का पहिया स्वामी जी के पैर पर से उतर गया, जिससे उनका पैर लहूलुहान हो गया। किन्तु उन्होंने उफ तक नहीं की। केवल पैर पकड़ कर बैठ गए। बाजार के लोग गाड़ीवान को मारने दौड़े किन्तु पू० स्वामी जी महाराज ने यह कह कर उसे जन-आक्रोश से बचा लिया कि 'इसमें कुसूर उसका नहीं है, कुसूर तो मेरा है कि मुझे दिखाई नहीं देता।'

(3) निर्भीक राष्ट्र-प्रेमी

सन् 1930 में नमक कानून के विरोध में गाँधी जी ने सत्याग्रह-आन्दोलन किया। आन्दोलन के संचालन के लिए डिक्टेटर बनाए जाते, जिन्हें ब्रिटिश सरकार गिरफ्तार कर लेती थी। दूसरे या तीसरे डिक्टेटर के जेल जाने के बाद कोई तैयार नहीं होता था। यह देख कर स्वामी जी महाराज स्वतन्त्रता-संग्राम में कूद पड़े और स्थानीय आन्दोलन की बागडोर सँभाल ली। इससे जनता में नया उत्साह आ गया। स्वामी जी भी शीघ्र ही गिरफ्तार कर लिया गए। जेल में जबरदस्ती उनके गेरुए वस्त्र उतार कर जेल के कपड़े पहना दिए गए। स्वामी जी ने उन कपड़ों को शीघ्र ही उतार फेंका। जेलर ने उन्हें शारीरिक कष्ट देकर डराना चाहा। उन्हें जमीन पर घसीटा गया जिससे उनकी पीठ छिल गई। पाँच छः अन्य संन्यासी माफी माँग कर जेल से छुटकारा पा गए किन्तु स्वामी जी अपने सिद्धान्त पर निर्भीकता पूर्वक डटे रहे और उन्होंने अनशन आरम्भ कर दिया। लोगों को चिन्ता हुई और उन्होंने यू० पी० सरकार तथा अखिल

भारतीय संन्यासी मण्डल को तार दिया। अन्तत: बड़े अधिकारियों ने हस्तक्षेप किया तथा स्वामी जी को अपने गेरुए वस्त्र ही पहनने को कहा, तब उन्होंने 20-21 दिनों के बाद अनशन समाप्त किया। एक-डेढ़ महीने बाद उन्हें जेल से छोड़ दिया गया तथा कस्बे के लोगों ने उनका धूम-धाम से स्वागत किया। स्वामी जी को तो अपने देश-सेवा के राग की निवृत्ति करनी थी, उन्हें सम्मान से क्या मतलब। शीघ्र ही उन्होंने वह स्थान छोड़ दिया।

(4) सन्त तीर्थों को पवित्र करते हैं

एक बड़े नगर में एक बार पूज्यपाद स्वामी शरणानन्द जी महाराज का सत्संग चल रहा था। श्री महाराज जी जब प्रवचन कर चुके तो मंच पर उपस्थित उस समय के एक प्रसिद्ध सन्त स्वामी पथिक जी महाराज ने स्वामी जी से पूछा कि, "महाराज, आप जो कुछ कहते हैं वही सत्य है क्या ?"

महाराज जी ने तत्काल कहा—"सत्य क्या है और कैसा है, यह तो सत्य जाने किन्तु मैंने उसे जैसा समझा और अनुभव किया— वैसा ही उसका निरूपण कर रहा हूँ। यह सत्य है। इसमें रंच मात्र भी सन्देह नहीं है।"

सत्संग-कार्यक्रम पूरा होने पर अगले दिन श्री महाराज जी को वहाँ से प्रस्थान करना था। श्री पथिक जी महाराज ने स्वामी जी से पूछा—"महाराज, अब यहाँ से आप कहाँ जाएँगे ?"

महाराज जी ने कहा—"यहाँ से हम प्रयागराज जाएँगे।"

पू० पथिक जी ने प्रश्न किया—"महाराज, लोग तीर्थों में क्यों जाते हैं ?"

महाराज जी ने उत्तर दिया—"पवित्र होने के लिए।"

पू० पथिक जी ने फिर पूछा—"तो फिर सन्त लोग किस लिए जाते हैं ?"

श्री महाराज जी ने कहा—'तीर्थों को पवित्र करने के लिए।'

(5) 'प्राकृतिक न्याय'

उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जनपद में जिला जज के निवास पर श्री महाराज जी ठहरे हुए थे। एक दिन जज साहब ने कहा कि चलिये महाराज आपको जेल दिखा लायें। श्री महाराज जी ने कहा कि भैया ! यह सब क्या है ? सब फँसे पड़े हैं। खैर, चलो कैदियों से बातचीत करेंगे। जेल में सभी प्रकार की सजायाफ्ता कैदी थे। बातचीत के दौरान एक फाँसी की सजा घोषित कैदी श्री महाराज जी के पास आया और कहा कि महाराज आप कहते हैं अपने किये का ही भुगतान प्रत्येक भाई करता है सो यह हत्या जिसमें मुझे फाँसी की सजा इन जज साहब ने दी है, मैंने नहीं की। श्री महाराज जी ने जज साहब से पूछा तो उन्होंने कहा कि सभी तथ्य इसके खिलाफ है अतः फाँसी की सजा देनी पड़ी। तब एकान्त में ले जाकर श्री महाराज जी ने उस कैदी से पूछा कि भैया ! सच-सच बताओ कि क्या तुमने कभी कोई खून नहीं किया। कैदी ने कहा कि महाराज ! सो तो मैंने तीन हत्यायें की हैं। श्री महाराज जी ने कहा भैया ! जो तुमने किया उसी का फल तुम्हारे सामने आया है। प्रकृति का विधान न्यायकारी है। जब तक पुण्य का खाता चला तुम बचते रहे। तुम भूल पर भूल करते रहे तो कैसे बचोगे। पाप का खाता खुलते ही तुम्हें यह सजा मिल रही है।

(6) दिखाई देने से प्यार नहीं होता—अपना मानने से होता है।

वर्ष 1972 माह अप्रैल में भरतपुर में सत्संग हो रहा था। श्री महाराज जी प्रभु प्रेम की बात कर रहे थे। सभा में बैठे एक सज्जन ने श्री महाराज जी से पूछा कि महाराज ! आप कहते हैं कि परमात्मा को प्रेम

करो, तो वे दिखाई तो देते नहीं, प्रेम कैसे करें ? श्री महाराज जी ने कहा कि भैया ! दिखाई देने से प्रेम नहीं होता। दिखाई तो देती है तुम्हें अपनी लुगाई भी और दिखाई देता हूँ तुम्हें मैं भी, बताओं किसे प्रेम करते हो। उन सज्जन ने कहा कि महाराज जी आपको भी हम प्रेम तो करते हैं। तत्काल श्री महाराज जी बोले हाँ भैया ! मुझे भी करते हो और उसे (पत्नी) ही करते हो। (हास्य) यार उसे अपना मानते हो। अपना अपने को प्यारा लगता ही है। भगवान को अपना मान लो तो अपने आप उनमें प्रेम हो जायेगा।

(7) पसन्दगी में भगवान

वर्ष 1974 हरिद्वार कुम्भ में श्री महाराज जी दैनिक प्रार्थना सभा बटाला कैम्प में प्रवचन कर रहे थे। श्री महाराज जी कह रहे थे कि प्रभु प्राप्ति में किसी योग्यता, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति की विवशता नहीं है। परमात्मा कहते ही उसे है जो सभी को प्राप्त होता है। उनकी प्राप्ति में बाह्य तैयारी की आवश्यकता नहीं हैं। एक सज्जन ने यह सुनते ही प्रश्न किया कि महाराज न तो मैं पढ़ा लिखा हूँ, न कोई योग्यता है, न गायन-वादन-नृत्य जानता हूँ कि भगवान को रिझा सकूँ फिर भगवान मुझे कैसे मिलें ? श्री महाराज जी ने कहा कि देखो भैया मुझे देखो। यदि भगवान ने कोई ऐसी शर्त लगाई होती कि मैं केवल विद्वानों को ही मिलूँगा तो मेरा तो उनकी लिस्ट में से नाम ही कट जाता क्योंकि मैं केवल तीसरा दर्जा पास हूँ, यदि भगवान धनवानों को ही मिलते तो भी मैं गिनती में नहीं आता क्योंकि मैं भिक्षुक हूँ। भगवान केवल बलवानों को ही मिलते तो भी मैं उस श्रेणी में नहीं आता क्योंकि अन्धा हूँ। किसी गुण विशेष पर रीझते तो भी मेरा नाम कट जाता। क्योंकि मुझमें कोई गुण नहीं है। पर क्या बताऊँ भैया ! उन्होंने अपने मिलने का इतना सहज उपाय

बताया है कि मैं उसे मिलता हूँ जो मुझे पसन्द कर लेता है। वृन्दावन आश्रम में न तो मैंने कोई मन्दिर बनाया है, न साधु-भण्डारा ही नित्य प्रति होता है। पर क्या बताऊँ भैया ! फिर भी वह मेरे संग लगा ही रहता है।

(8) विलक्षण प्रतिभा के धनी

पटना में इंडियन साइंस कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। विशाल पंडाल लगा था जिसमें विज्ञान के बड़े-बड़े प्रोफेसर तथा छात्र जुटे थे। उसमें स्वामी शरणानन्द जी महाराज को भी बुलाया गया। मंच पर जब उन नेत्रहीन सन्त को आमंत्रित करके कहा गया कि वे भी सम्मेलन को सम्बोधित करेंगे तो वहाँ उपस्थित लोग हँसे कि भला ये विज्ञान पर क्या बोलेंगे। किसी ने परमाणु सिद्धान्त पर प्रश्न कर दिया। वहाँ उपस्थित विद्वत् मण्डली के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब श्री महाराज जी ने एक वैज्ञानिक की भाँति आधा घण्टा परमाणु सिद्धान्त पर प्रवचन दे दिया ! मंच से उतर कर आप चल दिये। उनके एक शिष्य ने जो स्वयं आश्चर्यचकित था पूछा कि महाराज, आपने तो केवल चौथे-पाँचवें क्लास तक ही पढ़ाई की थी, फिर आपने विज्ञान के उच्चतम प्रश्न पर कैसे बोल दिया ? तो महाराज ने कहा कि जिसने साइंस (विज्ञान) को बनाया उसने मुझे बता दिया।

(9)

सन् 1967 ई० के दिसम्बर महीने में जोधपुर में अखिल भारतीय दार्शनिक सम्मेलन (इंडियन फिलोसोफिकल कांग्रेस) का वार्षिक अधिवेशन हुआ। इसमें देश भर के दर्शनशास्त्र के मूर्धन्य विद्वान, विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष भाग ले रहे थे एवं अपने भाषण दे रहे थे। सम्मेलन में भारत सरकार के तत्कालीन पेट्रोलियम मंत्री एवं दर्शन शास्त्र के विद्वान प्रो० हुमायूँ कबीर भी भाग लेने आये थे। एक दिन

सम्मेलन के जनरल सेक्रेटरी ने पू० स्वामी शरणानन्द जी महाराज को मंच पर लाकर उनका परिचय दिया तथा कहा कि अब आप लोग इनके विचार सुनिये। इस पर कई कोट-पैंट-टाई वाले विद्वान उठकर बाहर जाने लगे, किन्तु जैसे ही पू० महाराज जी ने अपना सम्बोधन प्रारम्भ किया, उनके सुस्पष्ट विचारों और अकाट्य तर्कों से प्रभावित होकर शीघ्र ही हॉल में लौटकर अपनी-अपनी कुर्सियों पर बैठ गए। करीब 45 मिनट तक शांत होकर सभी विद्वान जीवन-दर्शन और मानव-दर्शन पर पू० स्वामी जी महाराज के विचारों को सुनते रहे। प्रो० बसावड़ा जी एवं जसवन्त कॉलेज, जोधपुर के विभागाध्यक्ष प्रो० साहनी आदि वहाँ थे। श्री महाराज जी ने अपने भाषण से इस भ्रम को दूर किया कि जो जाना जाता है वह ज्ञान है तथा वह अभ्यास से बढ़ता है। उन्होंने स्पष्ट प्रतिपादित किया कि जिससे जाना जाता है उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान मानव को ईश्वरीय देन के रूप में मिला है; वह घटता या बढ़ता नहीं है।

(10) आजादी के दीवाने

सन् 1930 में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी जी द्वारा संचालित स्वतन्त्रता संग्राम का "नमक सत्याग्रह" आन्दोलन चल रहा था। श्री स्वामी जी महाराज अपनी टोली के आगे-आगे स्वयं झण्डा लेकर बड़े ही मधुर व ऊँचे स्वर से गाते चलते थे—

"भारत न रह सकेगा, हरगिज गुलामखाना।
आजाद होगा होगा, आता है वो जमाना॥"

इसी आन्दोलन में आप जेल भी गये और छः मास का कारावास भी हुआ। वहाँ जेल में उन्होंने गाँधी नमक माँगा। पर नहीं मिला। कौन देता? खद्दर के कपड़े माँगे, नहीं मिले तो सर्दी के दिनों में भी छः माह तक

वस्त्र विहीन दिगम्बर वेष में रहे। देश की आजादी के लिए अपने आपको समर्पित कर दिया। शरीर को विश्वरूपी वाटिका की खाद बना दिया।

(11) अगर बोओगे नहीं तो काटोगे क्या?

बात जनवरी 1946 की है। श्री महाराज जी परिकर-समाज सहित श्री जगन्नाथ पुरी की यात्रा पर जाने के लिए स्टेशन के प्लेटफार्म पर प्रतीक्षा कर रहे थे। श्री स्वामी जी महाराज का विनोदी स्वभाव और उन्मुक्त हास्य से वातावरण बड़ा ही उल्लासपूर्ण और आकर्षक हो उठा था। प्लेटफार्म के अन्य यात्रीगण तथा कुछ रेलवे कर्मचारी भी आनन्द ले रहे थे। एक एँग्लो इंडियन अधिकारी से नहीं रहा गया। आगे बढ़कर उसने कहा "महाराज मेरा खर्च आमदनी से ज्यादा है, बहुत परेशान रहता हूँ। इससे छुटकारा पाने का कोई उपाय बताइए।"

स्वामी जी ने कहा, "जो पाते हो उसका कुछ भाग दान कर दिया करो।" उस व्यक्ति ने कहा, "महाराज! यह आप क्या कहते हैं? मेरी तो आमदनी वैसे ही कम है, उस पर भी खैरात करूँ?" श्री महाराज जी—"क्यों? अगर महीने में दस दिन भूखे रहते हो तो बारह दिन सही। अगर धन के अभाव को मिटाना है तो देना ही पड़ेगा। अगर बोओगे नहीं तो काटोगे क्या?"

(12) समय का महत्त्व

श्री महाराज जी समय के बड़े पाबन्द थे। जीवन में उन्नति के लिए इसे परम आवश्यक समझते थे। एक स्थान पर सत्संग के लिए जो समय घोषित किया गया था उससे आधा घण्टा बाद चलने का प्रस्ताव संयोजक महोदय ने स्वामी जी से किया, ताकि श्रोतागणों की संख्या कुछ बढ़ जाए।

स्वामी जी ने कहा कि "एक व्यक्ति भी आप लोगों पर विश्वास करके निश्चित समय पर आ गया तो उसे निराश होना पड़ेगा। इसलिए निर्धारित समय पर ही कार्यक्रम आरम्भ कर देना चाहिए।"

इसी प्रकार एक स्थान पर सत्संग के लिए श्री महाराज जी कार द्वारा जा रहे थे। श्री महाराज जी ने ले जाने वाले सज्जन से पूछा—समय क्या हुआ है? उन्होंने कहा—आठ बजने में पाँच मिनट शेष हैं। सत्संग ठीक आठ बजे प्रारम्भ होना था एवं सत्संग स्थल एक फर्लांग की दूरी पर था। स्वामी जी महाराज ने कहा—भाई गाड़ी रोको। कार रोक दी गई। स्वामी जी कार से उतर वही टहलने लगे। साथ वाले सज्जन आश्चर्य से श्री स्वामी जी को देखने लगे। महाराज जी ने कहा—अगर सत्संग-स्थल पर समय से पूर्व ही हम लोग पहुँच जायेंगे तो आयोजकों में हड़बड़ी फैल जायेगी। इसलिए ठीक समय पर पहुँचना चाहिए।

(13) प्रेम विह्वलता

श्री महाराज जी का हृदय सदैव करुण रस से ओत-प्रोत रहता था। इटावा जनपद की बात है। श्री महाराज जी का शरीर बहुत अस्वस्थ चल रहा था। मीठी वस्तुएँ एकदम बन्द थीं। महाराज जी दोपहर के समय आराम कर रहे थे। साथ सेवा में जो साधक भाई थे बड़ी ही दृढ़ता के साथ बाहर बैठे रहे कि कोई व्यवधान न आ जाय। संत के आगमन का समाचार सुनकर किसी गाँव से पैदल चलकर एक वृद्धा माँ भरी दोपहरी में दर्शनार्थ पहुँची। साधक ने चुपचाप बरामदे में बैठने का संकेत किया। अभी एक मिनट ही बीता होगा कि श्री महाराज जी ने साधक को आवाज लगाई—यदि कोई बाहर मिलने आया है तो अन्दर भेज दो। साधक ने कहा—"एक वृद्धा माँ दर्शनार्थ अभी आई है और बरामदे में आराम से बैठी है। आप कुछ आराम और कर लेवें।" श्री महाराज जी बोले—"अरे

भैया ! तुम मेरा कर्त्तव्य बताते हो। हमने आराम कर लिया है, अब नींद नहीं आयेगी। उसे आ जाने दो।" माँ से अन्दर जाने के लिए कहा तो वे एकदम हर्षित हो गई। प्रीति और श्रद्धा के अश्रुकणों को छिपाते हुए और अंचल से ताजी राब (गन्ने से चीनी तैयार करते समय प्राप्त होने वाला एक द्रव पदार्थ) का एक बड़ा सा कुल्हड़ छिपाते हुए अत्यन्त भाव-विह्वल होकर तुरन्त अन्दर आई। बार-बार श्री महाराज जी के चरणों में सिर झुकाते हुए प्रीति गदगद कंठ से बोली—"मैं बहुत बूढ़ी हो गई हूँ, न जाने कब मर जाऊँगी, पर आज आपके दर्शन पाकर मैं धन्य हो गई हूँ। महाराज ! मैं एक गरीबनी हूँ। आपके लिए घर में बनी ताजी राब लाई हूँ।" यह कहते हुए राब से भरे कुल्हड़ को श्री महाराज जी के हाथों में थमा दिया। श्री महाराज जी के नेत्रों से करुणाश्रु छलक उठे और उन्होंने एक साथ ही लगभग आधा किलो राब बड़े ही प्रेम से पी डाली। डॉक्टरों की सलाह, शारीरिक अस्वस्थता और मीठी वस्तु के निषेध की मर्यादायें सभी तिरोहित हो गई—प्रेम के वशीभूत होकर।

(14) जो अपनी बात नहीं मानता, वह गुरु, ग्रन्थ की क्या मानेगा?

श्री महाराज जी एक बार प्रवचन करते-करते श्रोता समाज से पूछने लगे— "अनादिकाल से कितने ऋषि-मुनि, महापुरुष आये, कितने सद्ग्रन्थ लिखे गये, प्रचार-प्रसार भी खूब हो रहा है फिर भी उनका जितना प्रभाव होना चाहिए था, नहीं हुआ। बताओ भाई ! इसका क्या कारण है? श्रोताओं में से किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ। जिसने जैसा समझा उत्तर दिया। पर सच्ची बात प्रकट नहीं हुई। श्रोताओं ने आग्रह किया कि महाराज जी। आप ही बतायें। श्री महाराज जी ने कहा—"मुझे तो ऐसा लगता है कि मानव ने अपनी बात नहीं मानी, यानी अपने जीवन के सत्य को स्वीकार नहीं किया, यही इसका कारण है। जो अपनी बात नहीं मानता वह अपने गुरु, ग्रन्थ और धर्म की बात को मान ही कैसे सकता है?"

(15) परमात्मा की प्रियता ही सच्चा भजन

एक बार स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज गीता भवन के संस्थापक सेठ जयदयाल जी गोयन्दका के सत्संग में स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) आये। गोयन्दका जी ने पू० स्वामी जी महाराज से कहा कि हमारा आपका मत चौदह आने मिलता है। केवल दो आने का फर्क यह है कि आप नाम-जप और ध्यान की बात नहीं करते। श्री महाराज जी ने तुरन्त कहा कि मैं इनका विरोध करता हूँ क्या? बोले, "नहीं"। फिर श्री महाराज जी ने गोयन्दका जी से पूछा, अच्छा, यह बताओ, कोई पतिव्रता स्त्री अपने पति का नाम लेती है क्या? सेठ जी बोले, "नहीं"। फिर पूछा, "लेकिन वह अपने पति को कभी भूलती है क्या?" श्री महाराज जी ने आगे उनसे कहा कि मेरे तो कान पक गए यह सुन-सुन कर कि "मुझे तो 25 वर्ष हो गए नाम लेते हुए, लेकिन परमात्मा में मन टिकता नहीं है।" इसलिए मेरा यह कहना है कि अभ्यास का नाम भजन नहीं हैं, प्रियता ही सच्चा भजन है।

(16) अपना मान कर मन कभी परमात्मा में नहीं लगता

स्वामी श्री हरिनाथ जी महाराज जो पू० स्वामी शरणानन्द जी महाराज के साथ महीनों रहते थे तथा जिनका गीता भवन, ऋषिकेश से भी सम्पर्क था, उन्होंने एक प्रसंग सुनाया था, जो इस प्रकार है—

एक दिन ऋषिकेश में प्रातः काल के सत्संग के पश्चात् गीता भवन, स्वर्गाश्रम के ट्रस्टी महोदय स्वामी शरणानन्द जी महाराज के पास आये और उन्होंने पू० स्वामी जी से एकान्त में बात करने की इच्छा प्रकट की। इस पर पू० स्वामी जी ने साथ बैठे लोगों से बाहर जाने को कहा। श्री हरिनाथ जी महाराज थोड़ी ही दूरी पर एक तख्त पर लेटे हुए थे, वे वहीं लेटे रहे, तथा उन्होंने उस बातचीत को सुना। ट्रस्टी महोदय ने कहा, 'महाराज पिछले पन्द्रह वर्षों से मेरा यह नियम है कि मैं प्रतिदिन एक लाख

नाम का जप करता हूँ, उसके पश्चात् ही अन्न-जल ग्रहण करता हूँ। लेकिन अभी तक मेरा मन भगवान में नहीं लग पाया।' श्री स्वामी जी महाराज ने तुरन्त कहा— आपका मन भगवान में नहीं लग सकता। ट्रस्टी महोदय आश्चर्यचकित होकर उनकी ओर देखने लगे। उन्होंने पूछा, महाराज, मेरी बात से नाराज हो गये क्या? पू० महाराज जी ने कहा—नहीं, मैं नाराज नहीं हूँ, मेरी बात समझो। मैं यह कहता हूँ कि जब सब कुछ परमात्मा का है तो मन तुम्हारा कैसे हो गया? यदि परमात्मा को तुम अपना मान लो, उनसे सम्बन्ध जोड़ लो तो तुम्हारा मन स्वतः परमात्मा में लग जायेगा। अपना मानकर हम मन को कभी स्थिर नहीं कर सकते और न परमात्मा में लगा सकते हैं, मन को अपना मान कर।'

(17) विनोद में भी ज्ञान का पुट

सन् 60 के दशक की बात है। पू० स्वामी जी महाराज प्रातः काल की ट्रेन से छपरा पधार रहे थे। स्टेशन पर उनका स्वागत करने कई लोग गए, जिनमें कुछ वकील भी थे। संयोग से ट्रेन कुछ घण्टे लेट हो गई। सन्ध्या समय टाउन हॉल में सत्संग हुआ। सत्संग के बाद कुछ लोगों ने कहा कि स्वामी जी ! हम लोग स्टेशन गए थे, किन्तु ट्रेन लेट हो गई अतः हम लौट गए। पू० महाराज जी ने चुटकी लेते हुए कहा कि हाँ भैया, अपनी लुगाई आने वाली होती तब तो दुबारा स्टेशन जाते। कहने वाले अपना-सा मुँह लेकर रह गए।

(18) मेरा तो पचास प्रतिशत चला गया

पूज्य स्वामी जी सत्संग कार्यक्रम के सिलसिले में एक सम्पन्न प्रेमी के यहाँ ठहरे हुए थे। एक दिन प्रातः 4 से 5 बजे के सत्संग के समय महाराज जी को घर में कुछ बातचीत सुनाई पड़ी। उन्होंने पूछा तो ज्ञात हुआ कि घर में रात्रि के समय चोरी हो गई थी। चोर काफी सामान ले गए

थे। स्वामी जी उन दिनों केवल दो लँगोटी रखते थे, एक पहने हुए थे, दूसरी आँगन में सूखने को डाली हुई थी। चोर अन्य सामान के साथ स्वामी जी की लँगोटी भी लेते गए थे। महाराज जी ने पूछा कि क्या बहुत सामान चोरी हो गया है? घर के मालिक ने कहा कि हाँ महाराज, चोर सामान तो बहुत ले गए हैं। सब लोग उदास थे। महाराज जी ने पूछा कि अच्छा बताओ चोरी गया सामान तुम्हारी सम्पत्ति का कितने प्रतिशत था? उत्तर मिला कि महाराज जी, प्रतिशत के हिसाब से तो कम ही गया है। महाराज जी ने हँसते हुए कहा कि तब चिन्ता की क्या बात है। मुझे देखो मैं तो पचास प्रतिशत लुट गया (दो लँगोटियों में से एक लँगोटी चोर ले गए)। यह सुनते ही सब लोग हँस पड़े और उनकी उदासी तिरोहित हो गई।

× × × ×

राँची में एक गाँधीवादी सज्जन ने श्री महाराज जी से कहा, "महाराज जी, मन को मारने का क्या उपाय है?" श्री महाराज जी ने कहा, "राम-राम, गाँधी जी के शिष्य होकर, मारने की बात करते हो? गाँधी जी ने तो असहयोग का मार्ग अपनाया था। आप मन से असहयोग कर दो, मन समाप्त हो जाएगा।"

(19) लोकनायक जयप्रकाश नारायण के प्रति आत्मीयता

सन् 1973 ई० में पटना सचिवालय के समीप स्थित बँगले (10 मैंगल्स रोड) में स्वामी जी महाराज का प्रवचन चल रहा था। एक दिन अपराह्न 3 बजे लोकनायक जय प्रकाश बाबू ने अपना सिर श्री महाराज जी के चरणों में रखकर प्रणाम किया। श्री महाराज जी ने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया। उसके पश्चात् उन्होंने श्रद्धेय जय प्रकाश जी से उनकी धर्म पत्नी प्रभावती देवी के स्वास्थ्य का समाचार पूँछा जो हाल में ही

बम्बई से कैंसर का आप्रेशन कराकर आई थी। बातचीत के क्रम में पू० महाराज जी ने जय प्रकाश बाबू से कहा कि उनसे मेरी ओर से कहिएगा कि शरीर से असंग हो जायें, मुक्त हुए बिना शरीर न छूटे। जय प्रकाश बाबू ने कहा कि ये बातें वे आपके मुँह से सुनती तो ज्यादा अच्छा रहता। स्वामी जी ने कहा, "सभी मुँह एक है।" इसके पश्चात् उनसे देशों की समस्याओं पर भी चर्चा हुई। जय प्रकाश जी ने कहा, 'आप बिहार को अधिक समय दें।' श्री महाराज जी ने कहा कि "मैंने प्रान्तीयता का कभी ख्याल नहीं रखा। वैसे मैं पटना तथा अन्य स्थानों पर आता ही रहता हूँ।"

(20) स्वीकृति का जीवन पर प्रभाव

एक साधक भाई को पू० स्वामी जी महाराज जब भी पत्र लिखाते तो उन्हें 'साधन निष्ठ' सम्बोधन से सम्बोधित करते। उन्होंने एक बार पूछा, महाराज मैं तो साधननिष्ठ नहीं हूँ। फिर भी आप मुझे पत्र में 'साधननिष्ठ' सम्बोधित करते हैं। पू० स्वामी जी ने उत्तर दिया, "मैं चाहता हूँ कि तुम साधननिष्ठ हो जाओ, इस लिए ऐसा लिखता हूँ। देखो स्वीकृति का जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है।"

(21) भक्ति का सच्चा स्वरूप

किसी साधक ने श्री स्वामी जी महाराज से प्रश्न किया कि भक्ति का यथार्थ स्वरूप क्या है ? तो स्वामी जी ने उत्तर दिया—

मेरा कुछ नहीं है यही भक्ति है,
मुझे कुछ नहीं चाहिए यही भक्ति है,
मैं कुछ नहीं हूँ, यही भक्ति है;
इस भक्ति की प्राप्ति में सभी स्वाधीन हैं।

(22) गुरु तो तत्त्व है

एक बार गुरु-पूर्णिमा का दिवस था। पूज्य महाराज जी राजकोट (गुजरात) में एक प्रेमी भक्त के यहाँ ठहरे हुए थे। उन्होंने श्री महाराज जी का गुरु रूप में पूजन करने की अनुमति माँगी। श्री महाराज जी ने कहा, 'सेवकों के गुरु है श्री हनुमन्त लाल जी, विचारकों के गुरु हैं भगवान शंकर और प्रेमियों की गुरु हैं श्री राधा रानी। अब तुम्हारी अपने सम्बन्ध में जैसी मान्यता हो उस हिसाब से पूजन करो। देखो भाई, गुरु किसी शरीर का नाम नहीं है। गुरु तो तत्त्व है। शरीर में गुरु-बुद्धि और गुरु में शरीर-बुद्धि भूल है।'

(23) पर-दोष-दर्शन से सर्वथा मुक्त

एक बार एक साधक भाई पू० स्वामी जी महाराज के पास आकर कहने लगे। महाराज जी, श्री रजनीश अपने नाम के आगे भगवान लिखते हैं—क्या यह उचित है। स्वामी जी ने कहा—"जब वे आपको "भगवान" कह कर सम्बोधित करते हैं तब आपको आपत्ति क्यों नहीं होती? श्री रजनीश श्रोताओं को प्रवचन से पूर्व "आप सब के हृदय में विराजमान परमात्मा को नमस्कार है"—कह कर सम्बोधित करते थे।

(24) जो चाहता है, सो होता नहीं

परमपूज्य दिव्य ज्योति देवकी माता जी ने काफी परिश्रम करके उच्च अंकों के साथ एम० ए० की डिग्री प्राप्त की किन्तु उन्हें लगा कि जीवन का अभाव तो मिटा नहीं। वे सोचने लगी कि भगवान का दरवाजा देखा हुआ कोई सन्त मिल जाता तो उनसे पूछती। संयोग से छपरा के टाउन हॉल में पू० स्वामी शरणानन्द जी महाराज का प्रवचन चल रहा था। देवकी माता जी उनसे मिलीं और कहा, "महाराज जो चाहती हूँ, सो होता नहीं, जो होता है, सो भाता नहीं और जो भाता है, सो रहता नहीं; बताइये मैं

क्या करूँ ?" श्री स्वामी जी महाराज ने कहा कि 'लाली, जब तुम जानती हो कि जो चाहती हो, वह होता नहीं तो फिर चाह छोड़ क्यों नहीं देती ?' देवकी जी ने दोबारा प्रश्न किया कि इतने बड़े संसार में अपना कहने वाला तो कोई दिखाई नहीं देता। तब श्री महाराज जी ने कहा कि, "कोई एक हैं तो सही, वे मेरे मित्र हैं, कहो तो, सगाई की चर्चा करूँ लेकिन एक शर्त है लाली, कि जो कुछ झोली में भर कर लाई हो (गुणों और सच्चरित्रता का अभिमान आदि) उससे झोली खाली करने पड़ेगी क्योंकि वह पट्ठा अपने साथ किसी और को पसन्द नहीं करता।"

(25) सच्ची सेवा

किसी साधक ने स्वामी जी महाराज से प्रश्न किया कि सेवा का स्वरूप क्या है ? श्री महाराज जी ने सेवा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा, देखो, सुख के बन्धन में आबद्ध प्राणी एक मात्र सेवा के द्वारा ही छुटकारा पा सकता है। सेवा उसी साधन से की जा सकती है जिस साधन से सेवक अपनी सेवा करता है। शरीर तथा वस्तुओं के द्वारा तो केवल संसार के ऋण से छुटकारा पाता है। सच्ची सेवा वही है जिससे प्राणी का कल्याण हो। प्राणी का कल्याण तो भक्त तथा सन्त होने पर ही होता है। भक्त वही है जो प्रेमपात्र से विभक्त न हो अर्थात् जिसका सद्भावपूर्वक प्रेमपात्र से सम्बन्ध हो जाता है। सन्त वही हो सकता है जो दोष के त्याग तथा निर्दोषता को अपनाने में समर्थ हो। भक्त तथा सन्त होने पर ही प्राणी सच्चा सेवक हो सकता है।

(26) जीने की कला

एक बार श्री महाराज जी अपने प्रवचन में 'जीने की कला' बता रहे थे कि, यदि हम शरीर को संसार की मर्जी पर छोड़ दें और अपने को प्रभु के हवाले कर दें तो जीवन की सभी समस्याएँ आसानी से हल हो सकती

हैं। इस पर एक सत्संगी बोल उठे, "महाराज ! हमारे परिवार वालों के मन में हमें खिलाने की नहीं आती। यदि आपके कथनानुसार, हमने अपने शरीर को यदि परिवार की मर्जी पर छोड़ दिया तो हमें भूखा ही मरना पड़ेगा। इस पर श्री महाराज जी तपाक से बोले, "यदि भूखे मर जाओगे तो खाते-खाते अमर नहीं हो जाओगे। भोजन आज तक किसी को अमर नहीं बना सका। फिर मरने से क्यों डरते हो ?"

(27) ईश्वर धर्म और समाज किसी के ऋणी नहीं रहते

अपने समय के प्रसिद्ध सन्त श्री सनातन देव महाराज ने एक बार अपने पूर्व आश्रम की घटना बताई—श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज भगवान आश्रम ऋषिकेश में ठहरे हुए थे। मेरे मन में संन्यास का संकल्प मुझे आन्दोलित कर रहा था। मन काम-काज और लौकिक सम्बन्धों की पराधीनता से मुक्त होना चाहता था, परन्तु शरीर अस्वस्थ रहने के कारण भगवद्-इच्छा पर जीवन-निर्वाह को छोड़ने का साहस नहीं होता था। श्री महाराज जी के सम्मुख मैंने अपनी मनः स्थिति प्रकट की। श्री महाराज जी बोले, "ईश्वर, धर्म और समाज किसी के ऋणी नहीं रहते। जो इनके लिए त्याग करते हैं उनका वे अवश्य निर्वाह करते हैं।" महाराज जी के इन्हीं वाक्यों ने मुझे संन्यासी बना दिया। बाद में पू० स्वामी जी महाराज ने एक बड़ा ही प्रेरक पत्र मुझे लिखा।

पत्र के शब्द थे—

"आत्म-सम्मान **परम धन** है। राग-रहित हो जाना **परम निर्दोषता** है। आत्म-समर्पण **परम बल** है। सर्व अवस्थाओं से अतीत हो जाना **परम त्याग है**। प्रतिकूलता का भय तथा अनुकूलता की आशा न करना ही **परम तप** है। अपने में ही परम प्रेमास्पद की स्थापना कर सब प्रकार से अभय और अचिन्त हो जाना ही **परम-भक्ति** है। अपने लिए अपने से भिन्न की

खोज न करना ही **परम प्रयत्न** है। जिन साधनों से संयोग की दासता तथा वियोग का भय निवृत्त हो, वे ही **आध्यात्मिक साधन** हैं। शरीर विश्व के काम आ जाए, हृदय प्रीति से छका रहे और अपने में अपना बोध हो यही **पूर्ण जीवन** है।"

(28) सन्देह का समाधान

एक बार ऋषिकेश में गीता-भवन के पास वट-वृक्ष के नीचे सत्संग चल रहा था। एक सन्त ने कागज पर गीता का एक श्लोक लिख कर महाराज से उसकी व्याख्या चाही। श्री महाराज जी ने कहा कि, भैया, देखो अर्जुन को सन्देह हुआ और भगवान ने उसका समाधान कर दिया तो वह 'गीता' बन गई। आपका भी जो सन्देह और कठिनाई है वह हमारे सामने रखिए वह भी गीता बन जाएगी। हम लोग ग्रन्थ को अपना सन्देह मिटाने के लिए नहीं पढ़ते वरन् उसे खुराक बना कर मस्तिष्क के संग्रह के लिए पढ़ते हैं। महाराजश्री ने जब श्लोक की क्रम, अध्याय और संख्या सहित व्याख्या की तो सारा सन्त समाज आनन्द-विभोर हो उठा। तभी एक सन्त ने पूछ लिया, "महाराज, आपकी ऊँचाई कहाँ तक है ?" स्वामी जी ने कहा, "भैया, ऊँचाई नहीं बता सकता, मेरी निचाई जान लो कि सृष्टि की छाती पर पाँव रख कर खड़ा हूँ, मरूँगा नहीं।"

(29) सिर कट गया संसार डूब गया

एक बार श्री महाराज जी किसी सन्त से मिलने गए। वे सन्त लोगों से कम ही मिलते थे। सच्चे सन्तों को बहिर्मुखता पसन्द नहीं होती। कोई जाता तो वे सन्त दूर से ही फटकार देते। श्री महाराज जी भी जब मिलने गए तो दूर से ही कह दिया, "मेरे पास कुछ नहीं रखा, यहाँ से चले जाओ।" स्वामी जी ने कहा, "न आपके कहने से आया हूँ और न आपके कहने से जाऊँगा।" वे सन्त शान्त हो गए। बोले— "बताओ, किस लिए

आए हो।" स्वामी जी ने कहा, "आपके जीवन का अनुभव जानने के लिए आया हूँ।" सन्त फिर बोले, "मेरा सिर कट गया, संसार मिट गया, जाओ, जाओ, इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानता।" श्री महाराज जी ने हम लोगों को कहा, "जब संसार से कुछ चाह नहीं रही, अपने लिए कुछ करना नहीं रहा तो सिर कट गया, अहं का नाश हो गया, मृत्यु घटित हो गई, नित्य जीवन से अभिन्नता हो गई।"

(30) अप्रयत्न दशा

एक बार किसी जिज्ञासु ने श्री महाराज जी से पूछा, "महाराज! जब आपका कोई संकल्प नहीं है, कोई प्रयत्न नहीं है तो आप हमारे प्रश्नों का उत्तर कैसे दे देते हैं?" श्री स्वामी जी ने कहा, "जैसे गेंद को दीवार पर फेंक देने पर वह स्वत: उछलती है वैसे ही प्रश्नों का उत्तर पूछने पर स्वत: आ ही जाता है। उसमें मुझे कोई संकल्प या प्रयत्न नहीं करना पड़ता।"

(31) अभय दान

हैदराबाद में एक विश्वास-पथ की साधिका ने श्री महाराज जी से कहा, "महाराज जी, जन-समाज में सत्चर्चा के लिए लोग मुझे बुलाते हैं तो जाती हूँ किन्तु कभी-कभी भीतर से भय-सा लगने लगता है कि सुख-सुविधा-सम्मान में पड़ कर कहीं मैं भटक न जाऊँ"। सुन कर श्री स्वामी जी कुछ देर चुप रहे और फिर गम्भीर होकर कहा, "बिटिया, जहाँ रहो, प्यारे प्रभु की होकर रहो। अपने में विश्वास की नहीं, प्रभु में विश्वास की बात सामने रखना और एक रहस्य की बात तुम्हें बताता हूँ भूल कर भी संसार का दिया हुआ सम्मान स्वीकार मत करना, उसका मजा मत लेना, तब भटकने और अटकने का कोई भय नहीं रहेगा।"

(32) बच्चे देख कर सीखते हैं

कुरुक्षेत्र में सर्वोदय के वार्षिक अधिवेशन में एक बहन श्री स्वामी जी महाराज से कहने लगी, "स्वामी जी! मैं अपने बच्चे को बार-बार

समझाती हूँ पर वह मेरी बात नहीं मानता और तब उस पर मुझे बहुत क्रोध आता है। दूसरों के बच्चे चाहे कितना भी तंग करें, उन पर मुझे क्रोध नहीं आता।" श्री महाराज जी ने कहा, "बेटी, अपने बच्चे पर ममतावश क्रोध करती हो और दूसरों के बच्चों को क्रोधी कहे जाने के भय से क्षमा कर देती हो। बच्चे को समझाओ मत और न ही उसे भय दिखाओ, बल्कि उसका ध्यान किसी रुचिकर वस्तु की ओर लगा दो। अपने जीवन से बच्चे को अच्छाई दिखाओ। बच्चे देखकर सीखते हैं, समझाने से नहीं।"

(33) लड़के स्वयं सुधर जाएँगे

एक बार दिल्ली के सत्संग में एक अध्यापक महोदय श्री महाराज जी से कहने लगे, "हमारे स्कूल के बच्चे अनुशासनहीन होते जा रहे हैं और हमारा कहना नहीं मानते।" इस पर महाराज जी ने कहा—आप विद्यार्थियों के साथ अपने बच्चों जैसा व्यवहार नहीं करते और उनकी दुर्दशा से आपको पीड़ा नहीं होती। गुरुजनों के बिगड़ने से चेला-चेली बिगड़ते हैं। बुराई ऊपर से नीचे की ओर चलती है। अपना सुधार करने की आवश्यकता है, लड़के स्वयं सुधर जाएँगे।

(34) वह ईमानदार नास्तिक है

एक बार ऋषिकेश के सत्संग में हैदराबाद के एक सज्जन स्वामी जी महाराज से अपनी शंकाओं का समाधान करा रहे थे। वे कह रहे थे, "महाराज जी मैं तो भगवान को मानता हूँ, पर मेरा लड़का भगवान को बिल्कुल नहीं मानता। उसे मैं कैसे समझाऊँ?" स्वामी जी ने कहा, "वह ईमानदार नास्तिक है, पर तुम बेईमान आस्तिक हो। यदि तुम भगवान को मानते हो तो लड़का तुम्हारा कैसे हो गया? वह तो भगवान का होना चाहिए। भगवान की वस्तु को अपना मानना क्या ईमानदारी है? लड़के

से ममता हटाकर उसे प्रभु को सौंप दो। वह स्वतः कट्टर ईश्वरवादी आस्तिक हो जाएगा।

(35) गंगाजल से अभिषेक

श्री स्वामी जी महाराज के एक प्रेमी भक्त ने एक बार उनके जीवन की एक बड़ी ही रोमांचकारक घटना सुनाई। घटना इस प्रकार है—

पूज्य श्री महाराज जी एक बार गंगोत्री की यात्रा पर थे। साथ में कुछ साधक भी थे। श्री महाराज जी उत्तरकाशी में बाबा काली कमली वालों की धर्मशाला में ठहरे हुए थे। श्री महाराज जी ने साथ के लोगों को मनेरी चट्टी पर रुकने के लिए कहा और स्वयं एक साधक को साथ लेकर पैदल ही चल पड़े। साथ वाले व्यक्ति से श्री महाराज जी ने कहा—"यहाँ से लगभग तीन किलोमीटर की दूरी पर असी घाट है—जैसा काशी में है। चल कर हम लोग वहीं स्नान करेंगे।" तीन किलोमीटर चलने के पश्चात् श्री महाराज जी ने कहा, 'गंगा जी यहाँ से खेतों के पार लगभग एक फर्लांग की दूरी पर होंगी।' हम लोग बड़ी कठिनाई से उबड़-खाबड़ खेतों को पार करके वहाँ पहुँचे किन्तु वहाँ स्नान करने योग्य कोई घाट न था।

एकदम निर्जन सुनसान जगह; पथरीले किनारे; पत्थरों से टकराती शोर मचाती गंगा का तेज प्रवाह। जल में पाँव रखने की हिम्मत नहीं होती थी। मैंने श्री महाराज जी का डण्डा पकड़ कर डुबकी लगाई और श्री महाराज जी से प्रार्थना की कि आप कृपया दो-चार कदम से आगे न जाएँ। मैंने देखा कि स्वामी जी निर्भय हो कर बीच धारा में आगे बढ़ते ही जा रहे हैं। कुछ दूर जाने पर उनके हाथ का डण्डा भी छूट गया। घबराहट में मेरी चीख निकल गई—अब क्या होगा। मैं पूरी शक्ति से चिल्लाया, स्वामी जी बह गए! स्वामी जी बह गए। मेरे हाथ-पाँव ठण्डे पड़ गए। इतने में ही मैंने क्या देखा कि डगमगाते पैरों से धारा के बीच उभरी हुई

एक चट्टान को पकड़ लिया है। अगले ही क्षण वे उछल कर उस पर बैठ गए। मैं इस उधेड़बुन में था कि महाराज जी तक कोई मदद कैसे पहुँचाई जाए तब तक महाराज जी की आवाज सुनाई दी—बस डर गया, डर गया, कह कर वे हँस रहे थे। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो गंगा जी चट्टानों से टकराती हुई अपने जल से भगवान शिव का अभिषेक कर रही हों। देर होते देख अनन्त परमात्मा के उस नित्य सखा ने उस भयावह प्रवाह में शेर की तरह उछल कर एक छलाँग लगाई और दोनों हाथों से जल को चीरते हुए किनारे पर आ पहुँचे।

(36) विलक्षण स्नान

ऐसी ही एक घटना श्री महाराज जी की परिकर एक साधिका बहन ने इस प्रकार सुनाई—

स्थान था चम्बल-तट, ऊदी अवारी की गुफा। जहाँ पैर में चोट लग जाने के कारण कुछ समय तक श्री महाराज जी ने निवास किया था। श्री महाराज जी स्थान के लिए चम्बल तट स्थित श्मशान घाट पर गए जो गुफा के ठीक नीचे ही था। वहाँ जल काफी गहरा था। श्री महाराज जी ने अपना डण्डा पकडा कर मुझे जल में उतारा किन्तु मेरे पैर जमीन पर नहीं लग रहे थे। अतः मैंने उच्च स्वर से कहा—महाराज जी, मैं तो डूबी। श्री महाराज जी कहने लगे, "मेरे होते हुए तुम कैसे डूब सकती हो? चलो डुबकी लगाओ। देखो, तैंतीस डुबकियाँ लगानी हैं तभी पूर्ण स्नान होगा। मैंने काँपते हुए साहस बटोर कर डुबकियाँ लगाई। श्री महाराज जी कहते जा रहे थे—"लगाओ नौ डुबकी। पंच तत्त्व, तीन गुण और एक ब्रह्म। फिर लगाओ नौ डुबकियाँ। शरीर विश्व के काम आ जाए। अहं अभिमान-शून्य हो जाए, हृदय परम प्रेम से परिपूर्ण हो जाए। लगाओ पाँच गोते, जिनके प्रति तुम्हारे हृदय में दुर्भाव आया हो उनसे क्षमा माँग कर।

तुम्हारे प्रति जिनके हृदय में दुर्भाव आया हो उन्हें तुम क्षमा कर दो। अन्त में पाँच गोते उनके लिए लगाओ जो इस पवित्र नदी में स्थान की अभिलाषा अपने हृदय में सँजोए मन मसोस कर रह गए हों, किसी कारण से न आ सके हों, उन्हें इस स्नान का फल मिले।" इसके पश्चात् श्री महाराज जी स्वयं स्नान करने लगे।

(37) प्रेम की जागृति में ही जीवन की पूर्णता

आज के युग के महान् विचारक श्री जे० कृष्णमूर्ति जी के साथ पूज्य स्वामी शरणानन्द जी की एक भेंट का प्रसंग इस प्रकार है—

दिल्ली में श्री कृष्णमूर्ति जी जहाँ ठहरे थे वहाँ श्री स्वामी जी महाराज पहुँचे। श्री कृष्ण-मूर्ति जी ने अत्यन्त आदर और स्नेह के साथ स्वामी जी का स्वागत किया तथा अपनी विशेष कुर्सी पर ही स्वामी जी को बैठाया स्वयं एक साधारण सी कुर्सी पर बैठ गए। दुभाषिए के माध्यम से बात-चीत आरम्भ हुई। श्री स्वामी जी महाराज ने कहा, "आप प्रत्येक बात का निषेध करते जाते हैं तो क्या आप अभाव को स्वीकार करते हैं?" श्री कृष्णमूर्ति जी ने तुरन्त कहा, "नहीं, नहीं लाइफ है लाइफ है।" इस पर श्री महाराज जी ने कहा, "जिसे आप लाइफ (जीवन) कहते हैं उसे यदि मैं परमात्मा कहूँ तो आपको कोई आपत्ति है?" सुन कर श्री कृष्ण-मूर्ति जी मौन हो गए उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। बाद में इस भेंट की चर्चा करते हुए श्री स्वामी जी महाराज ने बताया कि कृष्णमूर्ति जी ने जो अन्तिम पुस्तक लिखी है उसमें कहा है कि, प्रेम की जागृति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। तो भाई, प्रेम तो तभी होगा जब कोई प्रेमास्पद हो। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने परमात्मा की सत्ता को ही स्वीकार किया है।

(38) जीवन के परिवर्तन से क्रान्ति

एक बार एक साधक ने श्री महाराज जी से सामाजिक क्रान्ति के विषय में चर्चा की कि, महाराज, समाज में क्रान्ति कैसे आए?

श्री महाराज जी ने कहा कि, भैया देखो, बलपूर्वक जो परिवर्तन आता है वह स्थायी नहीं होता और उसकी प्रतिक्रिया भी होती है, किन्तु विचारपूर्वक जो परिवर्तन आता है वह स्थायी होता है और उसकी विपरीत प्रतिक्रिया भी नहीं होती। गुण-दोष व्यक्तिगत होते हैं। किसी वर्ग विशेष को सदा के लिए हृदय-हीन और बेईमान मान लेना न्याय संगत नहीं है। जीवन के परिवर्तन से क्रान्ति आती है, परिस्थिति-परिवर्तन से नहीं। जीवन में परिवर्तन जाने हुए असत् के त्याग से होता है, बल से नहीं; और असत् के त्याग की प्रेरणा व्यापक हो सकती हैं व्यक्तिगत सत्संग के प्रभाव से।

(39) दिवंगत व्यक्ति की सच्ची सेवा

एक बहन ने श्री महाराज जी को बहुत दु:खी हो कर कहा कि, "कुछ ही समय पहले मेरे पति का अचानक देहावसान हो गया है। ऐसा क्यों हुआ? अब मैं क्या करूँ?" श्री महाराज जी ने जीवन का रहस्य उन्हें बताया कि हिन्दू धर्म के अनुसार स्थूल शरीर के न रहने पर भी सूक्ष्म तथा कारण शरीर उस समय तक रहता है जब तक कि प्राणी देहाभिमान का अन्त कर समस्त वासनाओं से पूर्णतया मुक्त न हो जाए। ऐसी दशा में मृतक प्राणी के प्रति जो कर्त्तव्य है, उस पर ध्यान देना चाहिए।

स्वधर्मनिष्ठ पत्नी अपने पति की आत्मशान्ति के लिए बहुत कुछ कर सकती है। वैधव्य धर्म, सती धर्म से भी अधिक महत्वपूर्ण है। सती तो अपने शरीर को भौतिक अग्नि में दग्ध करती है और फिर पति-लोक को प्राप्त करती है। किन्तु विधवा अपने सूक्ष्म तथा कारण शरीर दोनों को ज्ञान अग्नि में दग्ध करके जीवन में ही मृत्यु का अनुभव कर लेती है, जिससे स्वयं जीवन-मुक्त होती है और पति की आत्मा को भी मुक्त करती है।

देखो माँ ! पत्नी पति की अर्द्धांगिनी है । अतः पत्नी की साधना से पति का कल्याण हो सकता है । इस समय आपका हृदय घोर दुःखी है । परन्तु हमें दुःख से भी कुछ सीखना है । दुःख को व्यर्थ जाने देना, उससे भयभीत हो जाना भूल है । दुःख हमें त्याग का पाठ पढ़ाने आया है । अतः जब-जब पतिदेव के वियोग की वेदना उत्पन्न हो तब-तब उनकी आत्मा की शान्ति के लिए सर्वसमर्थ प्रभु से प्रार्थना करो । मृतक प्राणी का चिन्तन करने से उसे विशेष कष्ट होता है । कारण कि सूक्ष्म शरीर कुछ काल उसी वायुमण्डल में विचरता है जहाँ-जहाँ उसका सम्बन्ध होता है । जब-जब वह अपने प्रियजनों को दुःखी देखता है तब उसे बहुत अधिक दुःख होता है । अतः आपका धर्म है कि आप उन्हें दुःखी न करें । उनके कल्याणार्थ साधन अवश्य करें, पर मोह-जनित चिन्तन न करें ।

(40) संसार सेवा के लिए है भोग के लिए नहीं

एक साधक श्री महाराज जी के पास आए। जीवन की हताशा-निराशा से पीड़ित थे । बार-बार संसार की शिकायत कर रहे थे । श्री महाराज जी ने कहा, "लाला, जिस दिन यह बात समझ लोगे कि संसार तुम्हारे लिए नहीं है, वरन तुम्हीं संसार के लिए हो उसी दिन जीवन का चित्र बदल जाएगा । आज तक व्यक्ति यही भूल करता रहा है कि वह संसार को अपने भोग की वस्तु मानता आया है । और उसी कारण वह अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए संसार से सदा कुछ न कुछ चाहता ही रहता है । जिस दिन उसे इस सत्य का पता चलता है कि उसे जो कुछ मिला है वह अपने लिए नहीं है, दूसरों के लिए है । उसी दिन से उसके जीवन में क्रान्ति का सूत्रपात हो जाता है ।"

(41) न चल पाने की वेदना में ही चलने की सामर्थ्य निहित है ।

एक बार पूज्य स्वामी जी महाराज दिल्ली में थे । राष्ट्रपति-भवन से बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी का बुलावा आया । श्री महाराज जी राष्ट्रपति-भवन

पहुँचे। वहाँ राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त भी उपस्थित थे। एक-दो अन्य सज्जन भी थे। प्रश्नोत्तर की सत्संग-गोष्ठी का आयोजन किया गया था।

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने विनम्रतापूर्वक पूज्य स्वामी जी से अनुरोध किया, "महाराज पथ-प्रदर्शन कीजिए।" श्री स्वामी जी महाराज ने तत्काल कहा, "चलने की रुचि में पथ का दर्शन होता है।" इस पर बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी ने कहा, "चलने की रुचि भी है और पथ भी दिखाई देता है, लेकिन चला नहीं जाता।"

इस पर श्री स्वामी जी उत्तर दिया, "न चलने की वेदना में चलने की सामर्थ्य निहित है।" सुनकर राजेन्द्र बाबू तथा अन्य सज्जन प्रभावित हुए बिना न रह सके।

(42) गुलामों को ऐसी हँसी नहीं आती

परमपूज्य स्वामी जी महाराज एक बार जयपुर में थे। सत्संग का एक विशाल आयोजन किया गया था। उसमें राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री मोहन लाल सुखाड़िया को भी आमंत्रित किया गया था। प्रवचन पूरा होने के पश्चात श्री सुखाड़िया जी, महाराज जी के समीप आकर बैठ गए। उनके साथ कुछ व्यक्ति और भी थे। किसी व्यक्ति ने महाराज जी से कोई बात पूछी जिसके उत्तर में स्वामी जी महाराज ने उन्मुक्त रूप से अट्टहास किया। सुखाड़िया जी विस्मय विमुग्ध होकर स्वामी जी के उत्फुल्ल मुखमण्डल को एकटक देखते ही रह गए। उन्होंने पूँछ ही लिया, महाराज, मैं इस राज्य का मुख्यमंत्री हूँ। राज्यसत्ता एवं पैतृक सम्पत्ति के कारण सब कुछ होने पर भी मैं आज तक ऐसी हँसी नहीं हँस सका। श्री महाराज जी ने बिना किसी लाग-लपेट के कहा, "यार, गुलामों को ऐसी हँसी नहीं आती।" सुखाड़िया जी से फिर कुछ कहते न बना।

(43) तुम्हारी आँखें किसके काम आएँगी

एक बार श्री स्वामी जी महाराज ट्रेन से लखनऊ से बलरामपुर जा रहे थे। उन दिनों श्री महाराज जी अकेले ही यात्रा करते थे। महाराज जी के डिब्बे में ही एक इस्लाम धर्मावलम्बी जिला-जज भी बैठे हुए थे। बातचीत के क्रम में जब उन सज्जन ने स्वामी जी महाराज के गन्तव्य के सम्बन्ध में ज्ञात हुआ तो उन्होंने प्रश्न किया, "स्वामी जी, आपको दिखाई तो देता नहीं—गोंडा स्टेशन पर आप गाड़ी कैसे बदल पाएँगे।" महाराज जी ने तुरन्त कहा, भैया तुम्हारी आँखें किस काम आएँगी ? इस बात को सुनकर जज साहब बहुत प्रभावित हुए और गोंडा स्टेशन पर स्वयं उतर कर स्वामी महाराज को बलरामपुर जाने वाली गाड़ी में सवार कराया।

(44) अर्थ का अभाव उतना बुरा नहीं जितना अर्थ का प्रभाव

श्री स्वामी जी महाराज एक बार सत्संग के क्रम में बटाला पहुँचे। "मैं नहीं मेरा नहीं" गीत के रचयिता श्री महावीर जी वीर स्वामी जी के स्वागतार्थ आए। महाराज जी ने उनकी कुशल-क्षेम पूछी। वीर जी की टेलरिंग की दुकान थी। उन दिनों उनका व्यवसाय कुछ मंदा चल रहा था। वे कहने लगे, "महाराज जी, वैसे तो सब ठीक है किन्तु अर्थ का कुछ अभाव चल रहा है।" स्वामी जी महाराज ने तुरन्त कहा—"अर्थ का अभाव उतना बुरा नहीं है, अर्थ के प्रभाव से बचना।"

(45) किसी साधक के प्रश्न और उत्तर

प्रश्न—महाराज, मेरी नैया पार लगा दीजिए।

उत्तर—भैया, जिसकी नैया है, उसके भरोसे छोड़ दो। नैया भी पार हो जाएगी और तुम्हें भी पार ले जाएगी। और दोस्त, पकड़ोगे तो नाव भी डूबेगी और तुम्हें भी ले डूबेगी।

प्रश्न—महाराज, भगवान का नाम कितनी बार लेने से मनुष्य का उद्धार हो सकता है?

उत्तर—पूर्ण विश्वास हो तो, एक बार।

प्रश्न—जीवन में एक बार?

उत्तर—हाँ, जीवन में एक बार।

प्रश्न—यदि पूर्ण विश्वास न हो तो?

उत्तर—तब निरन्तर।

प्रश्न—सोते समय भी?

उत्तर—अरे जागते में तो लो, सोने के समय की जिम्मेदारी मेरे पर छोड़ दो। (यह कर ठठा कर हँस दिए)

प्रश्न—परमात्मा कैसे मिलें?

उत्तर—देह-गेह से नाता तोड़ दो, परमात्मा मिल जाएँगे?

(46) राघवेन्द्र सरकार ने होली खेली

एक बार सत्संग-गोष्ठी में उपस्थित कुछ सत्संगी सज्जनों ने स्वामी जी पर दबाव दिया कि वह घटना बताइये, जब एक माता जी के साथ भगवान ने होली खेली थी। पहले तो स्वामी जी महाराज जी ने आना-कानी की, फिर अधिक आग्रह करने पर कहने लगे—

सत्संग-कार्यक्रम था। उस समय एक माता जी आईं और बोली—स्वामी जी मुझे भगवान का दर्शन कराइये। स्वामी जी ने कहा—मैं कैसे करा सकता हूँ? वह तो उनकी इच्छा पर है। वे चाहें तो दर्शन दें, चाहे न दें। माता जी ने कहा—नहीं, आपको दर्शन कराना पड़ेगा। बहुत देर तक वे जिद करती रहीं फिर बोली—मुझे यह बताइये कि मैं क्या करूँ, जिससे मुझे दर्शन हों? स्वामी जी ने कहा कुछ मत

करो। वे बोली—मैं तो कुछ करती ही नहीं हूँ। तब स्वामी जी ने कहा—कुछ भी नहीं करतीं? बोली—केवल राम-राम करती हूँ। स्वामी जी ने कहा—वह भी मत करो। इतना सुन कर वे चली गई।

दूसरे दिन लोगों ने बताया कि वे तो जब से यहाँ से गई है तब से केवल रो ही रही हैं। उन्हें राम-नाम का आश्रय था—वह भी छूट गया था। इसलिए बस उस परमात्मा के विरह में रोए जा रही थी। तीसरे दिन वे रोती हुई आई और कहने लगीं—"स्वामी जी, मुझे तो कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मुझे जल्दी भगवान के दर्शन कराइये।" स्वामी जी ने कहा—"भगवान के साथ होली खेलोगी?" इस पर वे बोलीं—हाँ महाराज, खेलूँगी। दूसरे दिन होली थी। स्वामी जी ने कहा—जाओ तैयारी कर लो। कल भगवान आएँगे तो उनके साथ होली खेलना। वे चली गई। दूसरे दिन एक थाली में गुलाल लेकर, सामने तीन आसन बिछा कर, होली खेलने के लिए तैयार होकर बैठ गईं और प्रतीक्षा करने लगीं। भगवान राघवेन्द्र सरकार आए और तीनों रूपों में आए—मिथिलेश नंदिनी सीता जू और लखन लाल जी भी साथ थे। तीनों आसनों पर विराजमान हो गए और तीनों ने उनकी थाली में गुलाल लेकर उन्हें लगाया। माता जी तो भाव विह्वल होकर ठगी-सी रह गई। भगवान बोले—"तुम हमें गुलाल नहीं लगाओगी?" तब उन्हें चेत हुआ और उन्होंने भी तीनों को अपने हाथ से गुलाल लगाया। इसके बाद भगवान अन्तर्धान हो गये। तब माता जी दौड़ी-दौड़ी आईं और स्वामी जी से कहने लगीं, "महाराज जी! मैं तो लुट गई। भगवान आए और चले गए। इससे तो मैं पहले ही अच्छी थी। भीतर दर्द था। स्वामी जी, वे चले क्यों गए।" स्वामी जी ने कहा, "अरे माता जी, मैंने तो पहले ही कहा था। दर्शन की जिद मत करो; उनके प्रेम को बढ़ाती रहो।"

(47) दुःख-सुख साधन-सामग्री

एक बार एक साधक के मन में विचार आया कि मनुष्य के जीवन में दुःख क्यों आता है। उसी दिन स्वामी जी ने उनके बिना ही प्रश्न किए कहा, "दुःख-सुख किसी कर्म का परिणाम नहीं है। मानव के हित के लिए जब दुःखद परिस्थिति आवश्यक होती है, तब दुःख आता है एवं जब सुखद परिस्थिति आवश्यक होती है, तब सुख आता है। दुःख-सुख तो साधन-सामग्री है।" यह सुन कर साधक की शंका का समाधान हो गया।

(48) संसार का स्वरूप

पुरलिया (प० बंगाल) में सत्संग-कार्यक्रम हो रहा था। किसी साधक ने प्रश्न किया—"महाराज जी, संसार का स्वरूप क्या है? स्वामी जी ने उत्तर दिया— "जिसके पीछे दौड़ते रहो और हाथ न आवे, वह है संसार।" साधक ने पुनः प्रश्न किया, "इच्छाओं का स्वरूप क्या है?" महाराज जी ने कहा—"जो कभी पूरी न हो।"

(49) परमात्मा अभी है, अपने में है और अपना है

किसी साधक ने पूज्य देवकी जी से प्रश्न किया कि प्रभु का अनन्य चिन्तन कैसे हो? उस समय स्वामी जी के साथ ही पूजनीय देवकी माता जी भी पुरलिया पधारी थीं। माता जी ने समझाया किन्तु उन साधक के ठीक समझ में नहीं आया। उसी समय पूज्य स्वामी जी महाराज भीतर कमरे से बाहर आए और अपने आप ही बोले—"अनन्य अर्थात् दूसरा कोई है ही नहीं।" सुन कर साधक को सन्तोष हुआ। स्वामी जी महाराज ने सत्संग में आगे कहा—"देखो भाई, परमात्मा उसे नहीं कहते जो कभी हो और कभी न हो। परमात्मा सदैव है, पहले भी थे, अभी भी हैं और आगे भी रहेंगे। अतएव अभी हैं। परमात्मा उसे भी नहीं कहते जो सर्वत्र न हो। जो कहीं हो और कहीं न हो वह परमात्मा नहीं हो सकता। अतएव

परमात्मा सर्वत्र होने से मेरे में भी है। परमात्मा उसे भी नहीं कहते जो किसी का हो और किसी का न हो। अत: परमात्मा सभी का होने से मेरा भी है। अर्थात् मेरा परमात्मा मेरे में अभी है। तो भाई, अभी होने से भविष्य की प्रतीक्षा गई और अपने में होने से बाहर की तलाश गई कि कहाँ जाने से मिलेंगे, हिमालय की कन्दराओं में मिलेंगे या जंगलों-पहाड़ों में मिलेंगे और अपने होने से प्यारे लगेंगे।"

यह सुन कर उन साधक को बड़ी शान्ति मिली एवं उनका हृदय आनन्द से भर गया। सारी चिन्ताएँ मिट गईं। जिस परमात्मा को पाने के लिए निरन्तर चिन्तित रहते थे, वह तो हमारे में ही है।

(50) साधना में प्रगति का महामंत्र

पुरलिया के सत्संग में एक सज्जन ने कहा, "स्वामी जी महाराज तो आसमान की बात करते हैं। कहते हैं— निर्मम और निष्काम हो जाओ।" तब स्वामी जी बोले "अरे भाई, मैं तो बिल्कुल जमीन की बात करता हूँ। ममता और कामना का त्याग किए बिना साधना के मार्ग में बढ़ा ही नहीं जा सकता। इसलिए इस महामंत्र को अपनाना बहुत जरूरी है कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, सर्वसमर्थ प्रभु अपने है और सब कुछ उन्हीं का है।"

(51) कोई भी व्यक्ति सर्वांश में बुरा नहीं होता

किसी साधक ने प्रश्न किया कि, "स्वामी जी महाराज, आपने बताया कि किसी का बुरा मत करो—बहुत अच्छी बात है। किसी का बुरा नहीं करना चाहिए। और आपने कहा—किसी का बुरा नहीं चाहना चाहिए, यह और भी अच्छी बात है, किन्तु आपने कहा—किसी को बुरा नहीं समझना चाहिए। यह कैसे?

स्वामी जी बोले,"हाँ, यहीं साधक अटक जाते हैं। अच्छा भाई, यह बताओ कि कोई कितना भी बुरा क्यों न हो, क्या सर्वांश में बुरा हो सकता है ? तब किसी को बुरा समझना उसके साथ अन्याय है ।"

(52) खाते खाते क्या नहीं मरोगे?

किसी साधक ने प्रश्न किया, "भगवान का काम कितनी देर करें ?"

उत्तर—चौबीस घण्टे ।

प्रश्न—चौबीस घण्टे ?

उत्तर—हाँ, चौबीस घण्टे। तेईस घण्टे, उनसठ मिनट, उनसठ सैकेण्ड भगवान का काम किया और एक सैकेण्ड अपना काम किया तो कुछ नहीं हुआ। चौबीस घण्टे ही भगवान का काम करना है।

प्रश्न—चौबीस घण्टे भगवान का काम करें तो खाएँ क्या?

उत्तर—मत खाओ, भूखे मर जाओ। अपना काम करते-करते, खाते-खाते नहीं मरोगे क्या? फिर यदि भगवान का काम करते-करते भूखे मर जाओगे तो अधिक घाटा तो नहीं लगेगा।

स्वामी जी ने फिर कहा—मैं आपको कोई लोभ तो नहीं देना चाहता किन्तु सत्य कहता हूँ कि जबसे मैंने भगवान की शरण ग्रहण की है तब से किसी दिन भूखा रहना नहीं पड़ा। ऐसा कभी नहीं हुआ कि शरीर को भोजन की आवश्यकता है और भोजन न मिला हो।

(53) भगवान कैसे दिखाई दें?

किसी साधक ने स्वामी जी महाराज से प्रश्न किया—"महाराज, भगवान के साकार रूप का दर्शन करना चाहता हूँ।" स्वामी जी ने तत्काल कहा, और सब कुछ देखना छोड़ दो, भगवान दीख जाएँगे। साधक ने कहा—"यह तो बहुत कठिन है।" स्वामी जी ने स्पष्ट किया, "सब कुछ

देखना छोड़ने का अर्थ आँखें बन्द कर लेना नहीं है। इसका अर्थ है देखने में रुचि न लेना। संसार से पूर्ण असंगता।"

(54) परमात्मा पाप-पुण्य का प्रेरक नहीं

किसी बालिका ने स्वामी जी महाराज से प्रश्न किया, "जब सारे कार्य भगवान की सत्ता से ही होते हैं तो फिर मनुष्य को पाप-पुण्य क्यों होता है?"

स्वामी जी ने पूछा, "अच्छा बेटी, क्या तुम अँधेरे में गीता पढ़ सकती हो?"

बालिका ने कहा—नहीं'।

स्वामी जी ने फिर कहा—और प्रकाश में?

बालिका ने कहा—"पढ़ सकती हूँ।"

स्वामी जी—"और क्या तुम अँधेरे में ताश खेल सकती हो?"

बालिका—नहीं।

स्वामीजी—और प्रकाश में?

बालिका—खेल सकती हूँ।

स्वामी जी—तो फिर गीता पढ़ने और ताश खेलने में सत्ता तो प्रकाश की हुई किन्तु पढ़ने और खेलने की क्रिया तो तुम्हारे द्वारा ही हुई न?

बालिका ने कहा—महाराज जी अब मैं समझ गई।

(55) नाम की महिमा

किसी साधक भाई ने प्रश्न किया कि नाम-जप के बारे में आपके क्या विचार हैं, तो स्वामी जी ने कहा कि नाम-जप का तो मैं विरोध नहीं करता किन्तु साथ-साथ नाम की महिमा भी स्वीकार करने के लिए कहता

हूँ। साधक भाई ने पूछा नाम की महिमा कैसे स्वीकार करें, तो स्वामी जी महाराज ने बताया कि मेरे प्यारे का नाम है इसलिए प्यारा लगना चाहिए। मैंने तो यह समझा है कि नाम में प्रेम हो और नाम महिमा में विश्वास हो।

इसके बाद स्वामी जी ने बताया कि एक स्थान पर साधुओं का सम्मेलन था। वहाँ सब साधु ही साधु थे। मुझसे पूछा कि, महाराज, नाम के विषय में आपके क्या विचार हैं? स्वामी जी ने कहा कि धोखे से भी कान में पड़ ज़ाए तो उद्धार हो जाए। साधुओं ने स्वामी जी से फिर पूछा, महाराज कितनी बार भगवान का नाम लेने से मनुष्य का उद्धार हो सकता है—तो स्वामी जी जोर से हँसे और बोले, "आप नाम की महिमा पूछ रहे हैं या संख्या की?"

(56) जीवन का सम्पूर्ण सत्य

एक दिन दोपहर के समय पूज्य स्वामी जी महाराज विश्राम कर रहे थे। महाराज जी अपने सामने बैठे साधक से कहने लगे, "जो व्यक्ति संसार में किसी भी वस्तु को अपनी मानता है, वह सबसे बड़ा बेईमान और जो व्यक्ति भगवान को अपना नहीं मानता वह महामूर्ख।" कितने थोड़े-से शब्दों में स्वामी जी महाराज ने जीवन का पूरा सत्य प्रकट कर दिया।

(57) जागरूक नागरिक

एक बार श्री महाराज जी कुछ साथियों के साथ दिल्ली से इटावा जाना था। समय के अभाव के कारण टिकट खरीदना सम्भव नहीं हो सका। गाड़ी में ही टिकट बनवा लेने के इरादे से सब लोग गाड़ी पर चढ़ गए। गाड़ी में भी टिकट बनवाने का अवसर नहीं मिल पाया। इटावा स्टेशन पर उतर कर स्वामी जी ने एक साथी से कहा कि इटावा से दिल्ली की चार टिकटें खरीद कर ले आओ। टिकटें आ जाने पर स्वामी जी ने कहा—इन टिकटों को फाड़ कर पानी में फेंक दो। वाह रे! देश के विधान

का आदर करने वाले संन्यासी। आपसे रेल-विभाग की हानि सहन नहीं हुई।

(58) बल, निर्बलों के लिए

शुरू-शुरू में श्री महाराज जी जेब में कभी कोई पैसा नहीं रखते थे। जरूरत पड़ने पर भिक्षा से पैसा माँग कर काम चला लेते थे। एक बार नाव के द्वारा नदी पार करना पड़ गया। किनारे पर कुछ नौजवान आपस में बातचीत कर रहे थे। उनकी आवाज सुनकर स्वामी जी उनके पास जाकर कहने लगे, बेटा, मुझे दो आने चाहिएँ, नाव का भाड़ा देकर पार जाना है। वे नवयुवक कहने लगे, "जाओ बाबा, माफ करो।" स्वामी जी ने हाथ बढ़ा कर एक लड़के का हाथ पकड़ लिया और कहने लगे, "ऐसे माफ नहीं करूँगा। पहले मुझे यह बताओ कि मैं लेने के काबिल नहीं हूँ या तुम देने में समर्थ नहीं हो। अन्धा हूँ भैया, कमा नहीं सकता। क्या आँख वालों का यह धर्म नहीं है कि किसी अन्धे के काम आएँ।" उन लड़कों ने लज्जित होकर सन्त के पाँव पकड़ लिए और सहायता कर दी।

(59) प्राकृतिक न्याय

एक बार श्री महाराज जी किसी द्वार पर भिक्षा माँगने गए। भिक्षा के लिए जब आवाज लगाई तब उनका डील-डौल देखकर गृह-स्वामी कहने लगा—"इतने हट्टे-कट्टे होकर भिक्षा क्यों माँगते हो?" वह नहीं जानता था कि भिक्षुक सन्यासी प्रज्ञाचक्षु हैं। महाराज जी ने तुरन्त उत्तर दिया—"भैया, मैं तो इसलिए माँग रहा हूँ क्योंकि पिछले जन्म में दिया नहीं था।" प्राकृतिक न्याय की यह बात सुनकर वह व्यक्ति अवाक् रह गया और झट स्वामी जी को भिक्षा देने के लिए आतुर हो गया। सन्त की बात हृदय में कौंध गई कि यदि मैंने इस जन्म में नहीं दिया तो अगले जन्म में मुझे भी माँगना पड़ेगा।

(60) सुख में दुःख का दर्शन

एक बार एक निःसन्तान दम्पती वृन्दावन-आश्रम में श्री महाराज जी के दर्शनार्थ पधारे। पत्नी ने दुखी हृदय से कहा, "40 वर्ष से अधिक अवस्था हो गई है। भगवान ने हमें सन्तान का सुख नहीं दिया।" श्री महाराज जी करुणित होकर कहने लगे, "बिटिया, यह कहा करो हे प्रभु, तेरी इच्छा पूर्ण हो। वैसे भी बेटी, कितना अनुभूत सत्य है कि बेटे के जन्म के समय कितनी भयंकर प्रसव-पीड़ा सहनी पड़ती है, बेटे के पालन-पोषण में कितना कष्ट उठाना पड़ता है। बीमार होने पर कितनी चिन्ता होती है। विवाह होने पर माँ-बाप को भूल ही जाता है। कितना रुलाता है बेटा। तुम यहाँ आश्रम में आकर रहो। यहाँ सभी तुम्हें माँ कह कर पुकारेंगे पर रुलाएँगे नहीं।"

(61) मन एकाग्र कैसे हो?

गीता-भवन (ऋषिकेश) के प्रांगण में श्री महाराज जी का प्रवचन प्रारम्भ होने वाला था। एक सन्त आकर महाराज जी के तख्त के पास नीचे बैठ गए। महाराज जी ने उन्हें पकड़ कर अपने पास बैठा लिया। सन्त जी बोले कि उनका एक प्रश्न है। महाराज जी ने कहा कि, आपका क्या प्रश्न होगा। आप हमसे अकेले में बात कर लेना। सन्त जी ने कहा—नहीं महाराज मैं तो सब के सामने ही पूछना चाहता हूँ। तब महाराज जी ने कहा—तो पूछो फिर। सन्त ने पूछा—महाराज, मन बड़ा चंचल है। इसको एकाग्र करने की टैक्नीक बताएँ। श्री महाराज जी कहने लगे— "मन किसी टैक्नीक से एकाग्र नहीं होता। सम्बन्ध एक से रखो और उसके नाते सेवा अनेक की करो। मन तो वहाँ जाता है जहाँ आपने अपना सम्बन्ध जोड़ रखा है। मन को एकाग्र करने का प्रयास मत करो, अपना सम्बन्ध बदल डालो।"

(62) सास-बहू का झगड़ा

गीता-भवन (ऋषिकेश) के प्रांगण में प्रश्न-उत्तर-काल में एक नवयुवक ने महाराज जी के सामने अपनी समस्या रखी। वह नवयुवक कहने लगा—"महाराज जी, मेरे घर में मेरी पत्नी और मेरी माँ की आपस में नहीं बनती। वे दोनों एक-दूसरे से झगड़ती रहती हैं। मैं बहुत दु:खी हूँ क्या करूँ?" श्री महाराज जी ने परामर्श दिया—"अपनी माँ से कहो कि माँ, मेरी पत्नी तुम्हारी तो कुछ नहीं लगती। आप इसलिए उसे प्यार करो कि वह तुम्हारे बेटे की बहू है; और पत्नी से कहो कि मेरी माँ तुम्हारी तो कुछ नहीं लगती। तुम इसलिए उसे आदर दो क्योंकि वह तुम्हारे पति की माँ है। उन्हें समझाओ मत। तुम्हारा दु:ख जरूर मिट जाएगा। उन दोनों का दु:ख मिटे चाहे न मिटे।"

(63) मजदूरी नहीं, अफसरी करो

स्वामी जी महाराज के एक प्रेमी एक दिन उनसे कहने लगे—"महाराज जी, मैं प्रतिदिन मन्दिर में जाकर भगवान की सेवा-पूजा करता हूँ फिर भी मुझे भगवान का प्रेम प्राप्त नहीं हुआ।" श्री महाराज जी ने उत्तर दिया कि, "भाई, तुम मजदूरी क्यों करते हो? अफसर बनो। मजदूर को सारा दिन मेहनत करने पर केवल 20 रुपये मिलते हैं, जबकि अफसर 400 रु० रोज प्राप्त करता है। आप भगवान से सम्बन्ध जोड़ लो। बिना किसी प्रयत्न के भगवान का प्रेम स्वत: प्राप्त हो जाएगा।"

(64) आश्रम भिक्षावृत्ति से चलना चाहिए

एक बार मानव सेवा संघ आश्रम वृन्दावन के कुछ ट्रस्टी, मीटिंग के पश्चात् श्री महाराज जी की कुटिया में आकर कहने लगे, "महाराज जी, आश्रम में धन का अभाव चल रहा है। हमने मीटिंग में पास किया है कि सड़क के किनारे आश्रम की भूमि पर कुछ दुकानें बनवा कर किराये पर

चढ़ा दी जाएँ जिससे आश्रम का धनाभाव समाप्त हो जाए।" ऐसा सुनकर श्री महाराज जी को इतनी पीड़ा हुई कि एक दम शेर की तरह दहाड़ पड़े—"जज साहब। हमारा आश्रम यदि समाज की भिक्षा से नहीं चल सकता तो तुम्हारी अक्ल से भी नहीं चलेगा। धन का अभाव देकर तो हमारे प्रभु हमें त्याग का पाठ पढ़ाना चाहते हैं। खबरदार। यदि आश्रम में एक पैसे की भी आमदनी पैदा करने की कोशिश की।"

(65) साधुओं का घरों से क्या सम्बन्ध?

एक बार श्री महाराज जी दैनिक प्रार्थना सभा बटाला (पंजाब) में पधारे हुए थे। एक साधु से उनकी बातचीत चल रही थी। बातों-बातों में वे साधु, महाराज जी से कहने लगे—"महाराज जी मैं कई वर्षों से बटाला में सत्संग के लिए आ रहा हूँ। बटाला में मेरे पचास घर हो गए हैं जहाँ मुझे आदर, सम्मान एवं भोजन मिलता है।" महाराज जी झट बोल पड़े—"अरे। घर तो भंगियों के होते हैं। साधुओं का घरों से क्या सम्बन्ध?" वह साधु अपना-सा मुँह लेकर रह गया। महाराज जी ने विरक्तों को उनके धर्म की याद दिलाई।

(66) गुरु की बात मानो

श्री महाराज जी बटाला (पंजाब) में पधारे हुए थे। साधकों से बातचीत चल रही थी। एक डॉक्टर साहब कहने लगे—"महाराज जी, जब आप यहाँ आते हैं, आपका सत्संग सुन कर ऐसा लगता है जैसे सब साफ हो गया परन्तु आपके जाने के बाद वे ही विकार फिर से हमें घेर लेते हैं। ऐसा क्यों होता है?" श्री महाराज जी ने उत्तर देते हुए कहा, "बाहरी बात तो यह है कि आपको अपनी दुर्दशा की पीड़ा नहीं होती। हल्की-हल्की होती है और कभी-कभी होती है। और भीतरी बात यह है कि आप हमसे सम्बन्ध नहीं जोड़ते। गुरु नहीं बनाते तो चेला ही बना लो। बाप नहीं

बनाते तो बेटा ही बना लो। कोई न कोई सम्बन्ध तो जोड़ो, फिर देखो क्या होता है? जब तक गुरु जिन्दा है, उसकी छाती पर चढ़ोगे, उसकी जान लोगे। और जब गुरु मर जाएगा, तो उसकी मढ़ी बनाओगे। बात न अब मानोगे और न ही बाद में।"

(67) साधना से कल्याण

बटाला के एक टेलर मास्टर श्री महाराज जी को अपने घर ले गए। श्री महाराज जी को बैठक में बिठाकर अपना फीता लेकर आ गए। कहने लगे— "महाराज जी, मैं आपके दो चोले सी कर देना चाहता हूँ।" श्री महाराज जी उनकी भावना को भाँप गए। कहने लगे—"बेटा नए चोले तो बेशक बना दे परन्तु अपना पुराना चोला तुम्हें नहीं दूँगा। यह तो वस्त्र है। यदि तू मेरी चमड़ी भी उतार कर पहन ले तो कुछ नहीं होने वाला। जब तक स्वयं साधना नहीं करेगा, कल्याण नहीं होगा।" इस प्रकार महाराज जी साधकों की भ्रान्त धारणाओं को भस्मीभूत करते रहते थे।

(68) कौन जाने कब क्या हो जाए

बटाला में श्री महाराज जी को एक दुखद समाचार मिला कि उनके किसी प्रेमी साधक के बेटे का देहान्त जालन्धर में स्कूटर और बस की टक्कर के कारण हो गया है। दु:खी परिवार को सान्त्वना देने के लिए महाराज जी रात-भर फोन मिलाने का प्रयास करते रहे। बड़ी मुश्किल से भोर में फोन मिल पाया। प्रात:कालीन सत्संग में महाराज जी ने उस दु:खद घटना की चर्चा करते हुए कहा—"देखो, भाई, उस बाप को अपने इकलौते नौजवान बेटे की याद आ रही होगी या नहीं। इस याद में अभाव सताएगा या नहीं। यदि उस बाप ने 50 वर्ष की अवस्था में वानप्रस्थ ले लिया होता तो वह इस भयंकर वेदना से बच सकता था। तब उसे लड़के की नहीं, प्रभु की याद आती। इस नश्वर संसार में निर्मम होकर रहना चाहिए। कौन जानता है कब क्या हो जाए।"

(69) प्राप्ति केवल परमात्मा की

बटाला के सत्संग में एक भाई ने साधना-पथ पर चलने में भय की आशंका को प्रकट करते हुए कहा, "महाराज जी साधना-पथ पर चलने में मुझे भय लग रहा है कि कहीं जो मिला हुआ है वह भी न छिन जाए और आगे कुछ मिले नहीं।" श्री महाराज जी ने उत्तर दिया, कि "भैया, मिले हुए से तुझे मिला क्या? जितना मिला, उससे सन्तोष हुआ क्या? यह जो मिला हुआ-सा लगता है वह एक दिन छूट जाएगा कि नहीं? प्राप्ति तो केवल परमात्मा की होती है। जगत तो मिल कर बिछुड़ ही जाता है।"

(70) शरीर है संसार की वस्तु

डेरा बाबा नानक (पंजाब) से एक अध्यापक श्री महाराज जी का प्रवचन सुनने के लिए बटाला पधारे। उन्होंने प्रश्न किया, "महाराज जी सत्य के मार्ग पर चलने में मुझे भय लगता है कि कहीं हमारे शरीर की हानि न हो जाए।" महाराज जी ने उत्तर देते हुए कहा, "तुम्हारे पास जगत की एक वस्तु है शरीर के रूप में। उसको तुमने गलती से अपना मान रखा है। इस बेईमानी के कारण ही तुम्हें लग रहा है। जगत् यदि इस शरीर को मिटाता है तो हानि जगत की होगी कि तुम्हारी?" इस पर उन्होंने दूसरा प्रश्न किया, "महाराज जी, सत्य के मार्ग पर चलने में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं।" स्वामी जी ने उत्तर दिया, "अरे भाई, सती साध्वी के जीवन में ही कठिनाइयाँ आएँगी, वेश्या के जीवन में क्या कठिनाई है।"

(71) अहं ब्रह्मास्मि का अर्थ

बटाला के एक कॉलेज के प्रोफेसर ने किसी से नाम-दीक्षा ले रखी थी। उसने प्रश्न किया, "महाराज जी, अहं ब्रह्मास्मि का क्या अर्थ है?" श्री स्वामी जी ने कहा, "अहं जो है वह ब्रह्म का बाप तो हो सकता है, पर

ब्रह्म नहीं हो सकता। हाँ, ब्रह्म भले ही अहं हो।" साधक ने दूसरा प्रश्न किया, "महाराज जी भगवान को प्राप्त करने के लिए गुरु तो बनाना ही पड़ेगा न।" महाराज जी ने उत्तर दिया, "इतना हट्टा-कट्टा गुरु खड़ा तो है तेरे सामने।" अपनी महानता को गुप्त रखने वाले सद्गुरु की इससे अधिक करुणा भला और क्या होगी ?

(72) होली का वास्तविक अर्थ

होली के वार्षिक सत्संग समारोह के अवसर पर श्री महाराज जी अपनी कुटिया में तख्त पर लेटे हुए थे। उनके आस-पास बैठे हुए साधक श्री महाराज जी का वार्तालाप सुन रहे थे। श्री महाराज जी के मुख से ये शब्द निकले—"जानते हो, होली का अर्थ क्या है। राग-द्वेष को अग्नि में जला दो। देहाभिमान को मिट्टी में मिला दो और प्रेम में रंग जाओ। यही होली-पर्व का सच्चा अर्थ है। जीवन के लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए ही सारा क्रिया-कलाप होना चाहिए।"

(73) प्रभु की कृपालुता

एक दिन कुछ साधक भाई स्वामी जी के साथ सायंकाल को श्री बाँके बिहारी जी के दर्शनार्थ मन्दिर में गए। होली-उत्सव के कारण मन्दिर के गोसाँई पिचकारियाँ भर-भर कर दर्शनार्थियों पर रंग डाल रहे थे। महाराज जी के मुख पर पिचकारी की धार पड़ते देख एक साधक ने अपने दोनों हाथ मुख के सामने कर दिए। महाराज जी कड़क कर बोले, "यह कौन बुद्धिमान है, जो हमें भगवान से होली खेलने से रोक रहा है।" यह सुन कर उस सज्जन ने तुरन्त अपने हाथ हटा लिए। दर्शन कर लेने पर जब वापस लौटने लगे तो किसी ने रिक्शा ले आने के लिए कहा क्योंकि डॉक्टर ने स्वामी जी को अधिक चलने के लिए मना किया हुआ था। इधर-उधर रिक्शा ढूँढने का प्रयास किया किन्तु कहीं कोई खाली रिक्शा

नहीं मिला। साधक ने वापस लौट कर रिक्शा न मिलने की बात कही तब महाराज जी कहने लगे, "चलो आज पैदल ही चलेंगे। भगवान ने यदि साधन नहीं दिया तो शक्ति अवश्य दे देंगे।" ऐसा था अपने नित्य सखा के प्रति स्वामी जी का अटल विश्वास।

(74) भगवान इच्छा-रहित करते हैं

एक बार किसी ने श्री महाराज जी से प्रश्न किया—

"महाराज जी, क्या भगवान भक्त की इच्छा पूरी कर देते हैं? महाराज जी ने कहा, "कैसी बात करते हो, इच्छा तो उन्होंने अपने बाप की भी पूरी नहीं की फिर तुम्हारी कैसे कर देंगे? राजा दशरथ ने जो चाहा, वह नहीं हुआ। जो यशोदा जी ने चाहा वह नहीं हुआ। ब्रह्म की नित्य सहचरी सीता जी ने जो चाहा वह भी नहीं हुआ। भगवान इच्छा पूरी नहीं करते वे तो भक्त को इच्छा-रहित करते हैं।"

(75) शान्ति न जाने पाये

एक बार श्री महाराज जी के पास एक महिला आई। महाराज जी के चरण पकड़ कर वह जोर-जोर से रोने लगी। महिला ने रोते हुए कहा, "महाराज जी! मेरे पति मुझे छोड़कर चले गए।" करुणित होकर श्री महाराज जी ने कहा, "सुख चला गया है पर शान्ति न जाने पाये। साधना करो बेटी। तेरे मरे हुए पति का कल्याण होगा और तुम बार-बार पत्नी बनने के दुःख से छूट जाओगी।"

(76) सेवक को निःसंकल्प होना चाहिए

तीन-चार दिन की छुट्टी लेकर एक साधक महाराज जी से भेंट करने रानी-कोठी (ऋषिकेश) पहुँचे। प्रणाम करने पर महाराज जी ने पूछा, "कितने दिनों के लिए आए हो।" उन्होंने उत्तर दिया, "महाराज जी, तीन-चार दिनों के लिए आया हूँ।" स्वामी जी ने कहा, "यदि सेवा के लिए

अधिक दिन रुक जाते तो अच्छा रहता।" दोपहर को श्री महाराज जी की आज्ञा लिए बिना वे साधक लक्ष्मण-झूला चले गए। शाम को जब वे लौटे तो महाराज जी की सेवा में रत एक साधिका बहन ने कहा, "कहाँ चले गए थे, स्वामी महाराज आपके बारे में पूछ रहे थे।" वे साधक स्वामी जी के तख्त के पास ही सो गए। प्रातः 2 बजे उन साधक को आवाज देकर जगाया और पूँछने लगे, "कल बिना बताए कहाँ चले गए थे?" जब साधक ने कहा कि मन्दिर देखने लक्ष्मण झूला चले गए थे तब स्वामी जी कहने लगे—"देखो, बेटा! सेवक को अपना कोई संकल्प नहीं रखना चाहिए।" जब उन साधक ने अपनी साधन सम्बन्धी कठिनाई का जिक्र किया तो स्वामी जी कहने लगे—"बेटा, घबराने की जरुरत नहीं। धीरे-धीरे सब होगा। साधक की अपनी बनावट के अनुसार स्वयं को कुछ न कुछ मान अवश्य लेना चाहिए। चाहे अपने को भक्त मान लो, चाहे सेवक मान लो, चाहे जिज्ञासु मान लो। मान्यता के अनुरूप साधना फलित होने लगेगी।"

(77) अच्छी बात सब जानते हैं

एक बार एक भाई श्री महाराज जी से कहने लगे, "महाराज जी, हमें भी कोई अच्छी बात बताओ।" श्री महाराज जी ने कहा, "भैया, क्या तुम स्वयं अच्छी बातों को नहीं जानते, जो मानव को करनी चाहिए।" वह भाई कहने लगा, "हाँ महाराज, जानते तो हैं।" तब महाराज जी बोल उठे, "जब तुम अपनी ही जानी हुई बातों को नहीं मानते तब क्या गारण्टी है कि तुम हमारी बताई हुई बातों को मान लोगे।" महाराज जी यह ज्ञान करा दिया कि बिना पोथी पढ़े प्रत्येक भाई को बुराई का ज्ञान है। और सब व्यक्ति अच्छी बात जानते हैं।

(78) पहाड़ का गड्ढा भी जमीन से ऊँचा होता है

रानी कोठी (ऋषिकेश) की छत पर एक बार एक साधक छत पर महाराज जी को टहलने में सहायता कर रहे थे। उन साधक ने प्रश्न किया—"महाराज जी, श्री राम कृष्ण परमहंस इतने बड़े महापुरुष होने पर भी हुक्का क्यों पीते थे?" महाराज जी ने उत्तर देते हुए कहा, "यद्यपि यह कोई अच्छी बात नहीं थी। फिर भी महापुरुषों के दोष नहीं देखने चाहिएँ। देखो, पहाड़ का गड्ढा भी जमीन से ऊँचा होता है।" महाराज जी के इस सटीक उत्तर को सुन कर वे प्रश्नकर्त्ता साधक अवाक् रह गए।

(79) बदले की भावना से अपना अहित

एक साधक भाई ने श्री महाराज जी से अपनी प्रथम भेंट का वृतान्त इस प्रकार सुनाया—

एक बार श्री महाराज जी हमारे शहर में आए हुए थे। मैं उन्हें जानता नहीं था। उन दिनों अपने ससुराल वालों से मेरी बहुत कहा सुनी हो गई थी। उन्होंने मेरी बहुत ही बेइज्जती कर डाली थी। मैं क्रोध से पागल होकर चाकू लेकर बाजार में घूमता रहता कि कहीं मुझे मेरे साले मिल जाएँ तो मैं उन्हें मार डालूँ। रात भर नींद नहीं आती थी। सुबह मेरा मित्र मुझे अपने घर ले गया जहाँ स्वामी जी महाराज ठहरे हुए थे। मैंने अपरिचित होने के कारण बिना किसी श्रद्धा के उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने मुझे पकड़ कर अपने पास बिठा लिया और कहने लगे, "जिन्होंने माफ कर दिया उन्हें फाँसी के तख्ते पर भी चैन मिला। जो बदला लेने की सोचता है वह अपने ही जख्मों को हरा रखता है।" मैं इस बात से बहुत प्रभावित हुआ कि मेरे बिना बताए उन्होंने मेरी मनोदशा को कैसे जान लिया?

(80) भगवान का खिलौना

एक बार अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के फिलासफी के विद्यार्थियों ने श्री महाराज जी को अपना संशय निवारण करने की दृष्टि से बुलाया। वे कहने

लगे, "महाराज जी, हमें लगता है कि अल्लाह का हाथ साफ नहीं रहा। उससे अच्छे इन्सानों की जगह खराब इन्सान ज्यादा बन रहे हैं।" श्री महाराज जी ने तुरन्त उत्तर दिया, —"अरे अल्लाह का हाथ कैसा भी क्यों न हो पर उसने इतना बढ़िया खिलौना अवश्य बना दिया, जो वह अपने बनाने वाले के भी दोष देख सके।"

(81) बुद्धि से सत्य की खोज नहीं हो सकती

एक बार कुछ विद्यार्थी मानव सेवा संघ के वृन्दावन आश्रम में आए, कहने लगे, "महाराज जी, हम फिलासफी के रिसर्च स्कॉलर हैं। हम आपके दर्शन के विषय में बातचीत करने आए हैं।" श्री महाराज जी हँस कर बोले, "एक बाकायदा बदमाशी होती है, यह बेकायदा बदमाशी है। प्यार करते हो लुगाई से और रिसर्च ईश्वर की करने आए हो। फँसे हुए हो धन के प्रलोभन में और चाहते हो शरणानन्द के दर्शन को समझना। आप जैसे बुद्धिमानों ने गीता की अनेक टीकाएँ कर डालीं जो परस्पर मेल नहीं खातीं। दर्शन की बातों को जीवन में धारण करें। तुम्हारी खोज भी हो जाएगी और तुम्हें जीवन-धन भी मिल जाएँगे। बुद्धि से सत्य की क्या खोज करोगे?"

(82) मानव पर प्रभु की कृपालुता

एक बार एक फलों की दुकान वाले ने श्री महाराज जी को खाने के लिए केले दिए। श्री महाराज जी जैसे ही केला खाने लगे आँखों से आँसू टपकने लगे। फलवाला घबड़ा कर पूछने लगा—"महाराज जी, क्या आपको मैंने खराब केला दे दिया?" महाराज जी कहने लगे—"नहीं बेटा, यह बात नहीं है। केला खाते हुए मेरी दृष्टि प्रभु पर चली गई कि हे प्यारे! तूने अपने प्यारे मानव को छिलके में मीठा हलवा बंद करके दिया है। हे प्रभु! आप कितना प्यार करते हैं अपने प्रिय मानव से।"

(83) देने वाले में उदारता और लेने वाले में त्याग

एक बार दो प्रेमी श्री महाराज जी के पास अपने बेटे और बेटी की शादी तय कराने के उद्देश्य से आए। श्री महाराज जी बेटे को एक ओर ले जा कर पूछने लगे कि, "तू दहेज में क्या लेना चाहता है?" बेटा कहने लगा—"महाराज जी, जब आपका आशीर्वाद मिल रहा है तो इससे बढ़ कर मुझे और क्या चाहिए।" महाराज जी कहने लगे, "तू लड़की वालों से एक पैसा भी मत लेना।" उधर लड़की के बाप को एक ओर ले जा कर कहा कि "तू लड़की को अधिक से अधिक दहेज देना। शादी में ज्यादा पैसा बर्बाद न करके धन लड़की के नाम बैंक में जमा करा देना।" एक को महाराज जी ने त्याग का उपदेश दिया और दूसरे को उदारता का।

(84) बच्चों को सही मानव बनाओ

दिल्ली के एक जज साहब और उनकी पत्नी अपनी छोटी बच्ची को महाराज जी की गोद में डालकर बोले, "महाराज जी, इसे आशीर्वाद दीजिए। हम इसे डॉक्टर बनाना चाहते हैं।" महाराज जी कहने लगे—"बेटा, तुम्हारा संकल्प यह होना चाहिए कि हम इसे मानव बनाना चाहते हैं, फिर चाहे भले ही यह कुछ भी बन जाए।"

(85) मन, वाणी और कर्म से बुराई-रहित होना

एक करनाल के सत्संग में एक महिला ने श्री महाराज जी से प्रश्न किया, "महाराज जी, मेरे पति मुझे सत्संग में नहीं जाने देते। मेरा कल्याण कैसे हो सकता है?" श्री महाराज जी ने कहा—"बेटी, जब पति अच्छे मूड में हों तो अपनी इच्छा प्रकट कर दिया करो, फिर भी यदि वे न मानें तो तुम मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित हो जाओ। घर में रहते हुए ही सिद्ध हो जाओगी।"

(86) सन्त कभी नहीं सोते

दशहरे के अवसर पर दिल्ली में सत्संग चल रहा था। महाराज जी स्टेज पर लेटे हुए थे और बहन देवकी जी प्रवचन कर रहीं थी। किसी भाई के प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर उन्हें नहीं सूझ रहा था। महाराज जी एकदम उठ कर बैठ गए और प्रश्नकर्त्ता से बोले, "आगे आओ बेटा, हम तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देते हैं। देवकी जी अभी साधिका हैं।" प्रश्नकर्त्ता ने कहा, "महाराज जी आप तो खर्राटे भर कर सो रहे थे। आपको कैसे पता चला कि क्या चर्चा हो रही है।" महाराज जी ने कहा, "अरे हम कहाँ सोते हैं। (शरीर पर हाथ मार मार कर कहने लगे कि) यह कमबख्त सो रहा था।"

(87) आँखें तो पहले भी तुम्हारी नहीं थीं

मानव सेवा संघ के प्रथम प्रधान अवकाश प्राप्त मुख्य न्यायाधीश श्री बी० पी० सिन्हा स्वामी जी के पास वृन्दावन आश्रम में बैठे हुए थे। सिन्हा साहब कहने लगे, "महाराज जी, मैं 72 वर्ष का हो गया हूँ। अब मेरी आँखें जा रही हैं।" महाराज जी ने तुरन्त कहा, "भैया आँखें तो पहले भी तुम्हारी नहीं थीं। पता अब चला, जब वे जा रही हैं।"

(88) भगवान कृष्ण में आस्था

एक बार एक आर्यसमाजी भाई श्री महाराज जी से पूछने लगे, "महाराज जी आप कृष्ण को भगवान मानते हैं क्या?" श्री महाराज ने तुरन्त कहा, "भैया यदि आप उसे मानव भी मानें तो मैं उस पर ब्रह्म को न्यौछावर कर दूँ।"

(89) अपने धर्म का पालन और दूसरों के धर्म का आदर

एक बार श्री महाराज जी से एक भाई ने कहा, "महाराज अन्य सम्प्रदाय वाले सनातन धर्म के विरुद्ध बात करते हैं। महाराज जी ने उत्तर

दिया, "हम पर तो किसी के बाप का भी असर नहीं हो सकता। तुम कैसे सनातन धर्मी हो। तुम्हारी आस्था में कैसे खलल पड़ गया? वह तुम्हारे धर्म की निन्दा करते हैं और तुम हमसे उनके धर्म की निन्दा कराना चाहते हो। तुम्हें इससे क्या मिलेगा? अपने धर्म का पालन करो और दूसरों के धर्म का आदर करो।"

(90) मेरे अनेक मुख हैं

एक बार दिल्ली के सत्संग कार्यक्रम में महाराज जी विराजमान थे। एक भक्त श्री महाराज जी के लिए अपनी गाय के दूध के पेड़े बना कर लाए। महाराज जी ने जरा सा पेड़ा मुख में रख लिया और शेष सभी पेड़े सत्संग भवन में बैठे हुए साधकों में बाँट दिए। पेड़े लाने वाले साधक यह देख कर कुछ उदास होकर महाराज जी से कहने लगे, "उन्होंने बड़े भाव से ये पेड़े महाराज जी के लिए बनाए थे।" महाराज जी झट बोल पड़े—"भैया, एक ही मुख से बार-बार खाने की बजाय मैंने ये पेड़े अनेक मुखों से एक ही बार में खा लिए।"

(91) जीवन-मुक्ति का अभिप्राय

एक बार एक भाई ने प्रश्न किया—"महाराज जी, जीवनमुक्ति किसी कहते हैं। स्वामी जी महाराज ने उत्तर दिया, "इच्छाओं के रहते हुए प्राण चले जाएँ तो मृत्यु हो गई और प्राण रहते हुए इच्छाएँ चली जाएँ तो मुक्ति हो गई। आप कुछ पैसे लेकर बाजार जाते हैं। यदि पैसे समाप्त हो गए और जरूरत बनी रही तो पैसे लेने के लिए फिर घर जाओगे। यदि पैसों के रहते हुए जरूरत समाप्त हो गई तो बात बन गई।"

(92) वैज्ञानिक उन्नति क्या है : $\frac{3}{4}$ को $\frac{75}{100}$ करना।

किसी साधक ने स्वामी जी महाराज से कहा, "महाराज जी ! विज्ञान, अनेक आविष्कारों के द्वारा सुख-भोग के साधनों में वृद्धि करता जा रहा

है। इस विषय में अध्यात्म का क्या दृष्टिकोण है?" महाराज जी ने उत्तर देते हुए कहा, "बेटा, प्रकृति से जितना सुख लोगे उतना दुःख भी भोगना पड़ेगा। वैज्ञानिक उन्नति क्या है— $\frac{3}{4}$ को $\frac{75}{100}$ करना। पहले हम सरसों के तेल के दिये की रोशनी में पढ़ते थे तो नजर कितनी तेज थी। आज ट्यूब लाइट की चकाचौंध ने नजर कितनी कमजोर कर दी। आँखों पर चश्में लग गए। जब घोड़े पर सवारी करते थे तो गिरने पर चोट कम लगती थी और आज जब कार का एक्सीडैण्ट होता है तब? और जब हवाई जहाज का एक्सीडैण्ट होता है तब?"

(93) गुरु मानने का अधिकार सभी को है

एक साधक ने श्री महाराज जी से प्रार्थना की, "क्या आप मुझे अपना शिष्य बनाएँगे?" श्री महाराज जी ने कहा—"तुम्हें मुझे अपना गुरु मानना है कि मुझे तुम्हें शिष्य बनाना है। गुरु मानने का अधिकार सभी को है और शिष्य बनाने का किसी को अधिकार नहीं। गुरु मान लोगे तो शिष्य हो जाओगे। शिष्य हो जाओगे तो गुरु हो जाओगे। गुरु बन जाओगे तो हमारे मित्र हो जाओगे।"

(94) परिस्थिति को नहीं, अपने को बदलो

एक बार किसी साधक ने श्री महाराज जी के सामने अपनी व्यक्तिगत समस्या रखी, "महाराज जी मेरी पत्नी को यह भय है कि कहीं मैं घर छोड़ कर न चला जाऊँ।" श्री महाराज जी ने कहा, "हमारी बिटिया को जाकर कह देना कि यदि तुम्हारा पति घर छोड़ता है, तो वह सच्चा मानव सेवा संघी नहीं है। बेटा! घर नहीं छोड़ना है, ममता और अपना अधिकार छोड़ना है। परिस्थिति को नहीं, अपने को बदलो।"

(95) ममता अवश्य छूट सकती है

एक बार बटाला में श्री महाराज जी से एक माता जी ने प्रश्न किया, "महाराज जी, मोह-ममता तो यशोदा मैया की भी नहीं छूटी थी। हम साधारण स्त्रियों की कैसे छूट सकती है ?" श्री महाराज जी ने कहा, "माता जी। आपको कैसे पता कि यशोदा मैया की मोह ममता नहीं छूटी थी। उनकी न भी छूटी हो, परन्तु तुम्हारी अवश्य छूट सकती है।"

सन्त-वाणी

- *विषय-चिन्तन मिटाने के लिए भगवच्चिन्तन का स्वभाव बनाओ।*
- *निर्वासना के बिना सत्य का अनुभव नहीं होता। अतः निर्वासना प्राप्त करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दो।*
- *उस सुख का त्याग कर दो, जो किसी को दुःख हो।*
- *सुख और दुःख बीज और वृक्ष के समान हैं, क्योंकि सुख-रूप बीज से दुःखरूप वृक्ष हरा-भरा होता है।*
- *सेवक के जीवन में सुख, सुविधा, सम्मान के भोग का कोई स्थान ही नहीं है।*
- *सुख, सुविधा, सम्मान की रूचि विनाश का मूल है।*
- *सेवा, त्याग, प्रेम की माँग जीवन की वास्तविक माँग है।*
- *सेवा की पूर्णता में ही त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति है।*

महाप्रयाण के पूर्व स्वामी जी के उद्‌गार

- जो दूसरों के हित के लिए जीता है, वह महान् है। जो अपने लिये जीता है वह अभागा है। दूसरों के हित के लिए जिओ। सुख-भोग के लिये जीना पाप है। दूसरों के लिए जीना महान पुण्य है।
- सेवा सभी की करना, किन्तु आशा किसी से मत करना।
- सेवा का मूल्य प्रभु देता है, संसार नहीं दे सकता।
- जो प्रभु का होकर रहेगा मैं उसका ऋणी हूँ।
- किसी को भी जो वस्तु मिलती है, वह भाग्य से अथवा प्रभु-कृपा से मिलती है। वस्तु के लिए परस्पर झगड़ना नहीं चाहिये।
- कोई बात पूरी नहीं होती, तो समझो कि वह जरूरी नहीं है।
- प्रभु-विश्वासी होकर रहो यही मेरी सेवा है, बुराई-रहित होकर रहो यही विश्व-सेवा है, अचाह होकर रहो यही अपनी सेवा है।
- या अल्लाह, या खुदा ! कोई यह न समझना कि शरणानन्द का कोई मजहब या सम्प्रदाय है। जो खुदा का है वह शरणानन्द का है। मानव सेवा संघ, मानव मात्र का है, इसलिए कहता हूँ कि संघ की सेवा करो।
- किसी एकदेशीय साधना का समर्थक में नहीं हूँ।
- मानव सेवा संघ कोई दल नहीं है, मानव मात्र का सत्य है। उसको अपनाने से योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति अनिवार्य है।
- सत्संग से जीवन मिलता है। सत्संग, स्वधर्म है, शरीर-धर्म नहीं है। सत्संग-योजना को सजीव बनाकर मानव-जाति को जगा दो, अर्थात् सोई हुई मानवता जाग्रत हो।

- बुराई करो मत, भलाई का फल मत चाहो। प्रभु को अपना करके अपने में स्वीकार करो।
- मन, वचन, कर्म से जो बुराई-रहित हो जाता है, और जो भलाई का फल नहीं चाहतां, वह स्वाधीन हो जाता है। जो स्वाधीन हो जाता है, उससे जगत् और प्रभु प्रसन्न होते हैं। प्रभु सबको स्वाधीनता प्रदान करें।
- दवा कर्त्तव्य के लिए देते रहो। दवा कर्त्तव्य के लिए है, जीवन के लिए नहीं, अपने लिए तो प्रभु ही हैं।
- शरणागत अमर होता है, उसकी मौत नहीं होती। जो कर्त्तव्य रूप में कर सकते हो, करो। जो नहीं कर सकते हो, उसकी परवाह मत करो।
- अपने में अपना जीवन है, अपने में अपना प्रभु है। इसी के लिए जीवन है, चिन्तित होने के लिए नहीं।
- मैं अमर हूँ, यार। मेरा यह शरीर न रहे, पर मेरे अनेक शरीर हैं, उनमें मिलता रहूँगा। गुरु मरता नहीं है। गुरु शरीर थोड़े ही है, वह अमर तत्त्व है।
- शरीर के नाश होने पर भी, मेरी सद्भावना साधकों के साथ रहेगी— अटूट रूप से रहेगी।
- मैं सबके साथ हमेशा रहूँगा। जितने भी शरणागत हैं, उन सबसे मैं अभिन्न हूँ; जितने भी ममता-रहित हैं, उन सबके साथ हूँ। यह मत समझना कि मैं नहीं हूँ, मैं सर्वत्र सबके साथ मौजूद हूँ।
- आप लोगों के लिए सहने की शक्ति माँगता हूँ, आप लोगों के लिए निर्भयता माँगता हूँ। आप लोगों के लिए प्रभु-विश्वास माँगता हूँ। मुझसे बड़ा भिखारी और कौन होगा।

- गुरु से, प्रभु से कभी वियोग नहीं होता। जिससे वियोग होता है वह गुरु नहीं है।
- शोक-भय मत करना, विदाई का आदर करना।
- विचारशील के अनेक शरीर हैं, एक शरीर नहीं।
- साधु के पास दुःखी होने के लिए, मोह के लिए नहीं आया जाता; मुक्त होने के लिए तथा आनन्द के लिए आया जाता है। जो अनिवार्य है उसके लिए रोना क्या?
- प्रभु का होकर रहना अनिवार्य है, मुक्त होना अनिवार्य है। अमर होने के लिए मरा जाता है। प्रभु का एक विधान है कि अशरीरी जीवन से सेवा होती है, शरीर-बद्ध जीवन से नहीं।
- मैं मानव होने के नाते प्रभु का अपना हूँ आप भी मानव होने से प्रभु के हैं। जड़ से चेतन तक, पापी से मुक्त तक, बालक से बूढ़े तक—सबको प्रेम चाहिये।
- कोई और नहीं है, कोई गैर नहीं है। सत्ता रूप में कोई और नहीं है। व्यवहार में कोई गैर नहीं है। कोई गैर नहीं है, कोई और नहीं है। दुःख देने वाला भी गैर नहीं है।
- किसी भी काल में प्रभु के सिवाय सत्ता किसी और की है ही नहीं—यही सत्य है।
- भगवान् उसी को मिलते हैं, जो उन्हें अपना मानता है। उन्हें अपना मानना ही भजन है।
- प्रभु अपने हैं, यही भजन है, मेरा कुछ नहीं है, यही ज्ञान है और मुझे कुछ नहीं चाहिये, यही तप है।
- अपने में अपने प्रियतम हैं। उनके नाते सभी के साथ सद्‌भावना रखनी चाहिये। जो इसे मानेगा, उसका बेड़ा पार।

- भगवान् पतितपावन भी हैं, भक्तवत्सल भी हैं। अतः निराश नहीं होना चाहिए। किसी साधक को निराश होने की आवश्यकता नहीं है। साधक, प्रभु का हो जाने पर सनाथ हो जाता है।
- जिसने प्रभु की महिमा को स्वीकार किया, उसका कल्याण है, वह सौभाग्यवान है। दुनियाँ में अभागा वही है जो वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की महिमा को मानता है। जो वस्तु की अपेक्षा प्रभु की ही महिमा स्वीकार करता है, वह भाग्यशाली है।
- सब प्रभु का है, सब प्रभु का है और केवल प्रभु ही हैं। सेवा करो तो इसे ध्यान में रखो। इस भाव से सेवा किसी की भी करोगे, तो वह प्रभु की ही सेवा होगी। प्रभु-विश्वासी के लिए सेवा महान बल है। सेवा में लगने से बल स्वतः आ जाता है। यह महामन्त्र है।
- जय प्रभु, जय प्रभु, जय प्रभु। तुमने सब कुछ दिया, सब कुछ दिया, बिना माँगे दिया। हम सभी उदार हो जायँ तुम्हारी उदारता पाकर, हम सभी स्वाधीन हो जायँ, तुम्हारी स्वाधीनता पाकर, हम सभी प्रेमी हो जायँ तुम्हारे प्रेम को अपनाकर।
- सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से अपने शरणागत साधकों को साधननिष्ठ बनावें। प्रभु साधकों को अपनी आत्मीयता से जाग्रत प्रियता प्रदान करें। इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार, सभी को प्रणाम।

❑
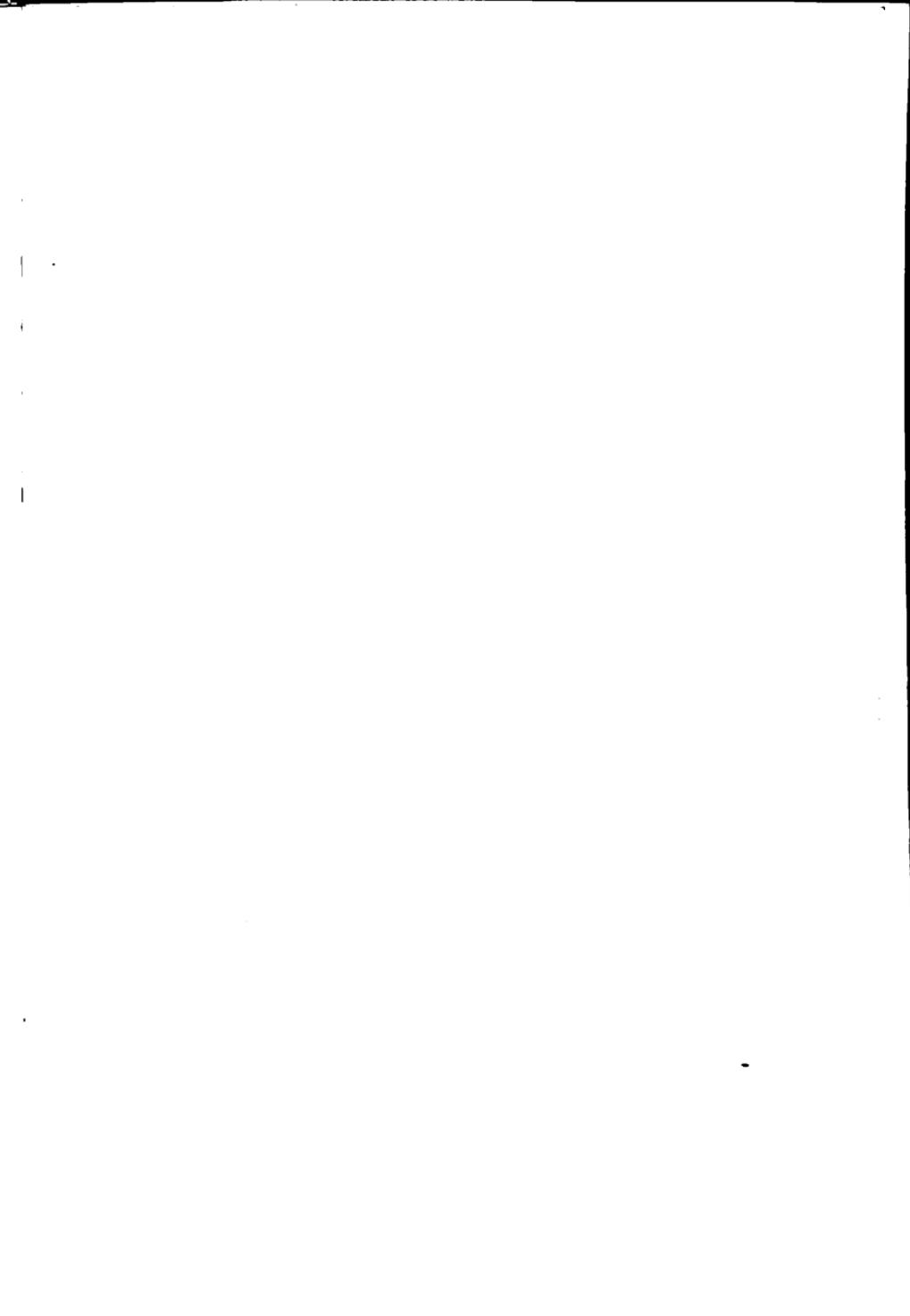
सन्त हृदय की करुण पुकार

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो,
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो,
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
पीर हरो हरि पीर हरो पीर हरो प्रभु पीर हरो ।
पीर हरो हरि पीर हरो पीर हरो प्रभु पीर हरो ।